आत्मनोमोक्षार्थंजगद्धितायच

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्दभावधाराकीप्रमुखहि[illegible]मासिक

वर्ष : २०　　नवम्बर - दिसम्बर　　२००१

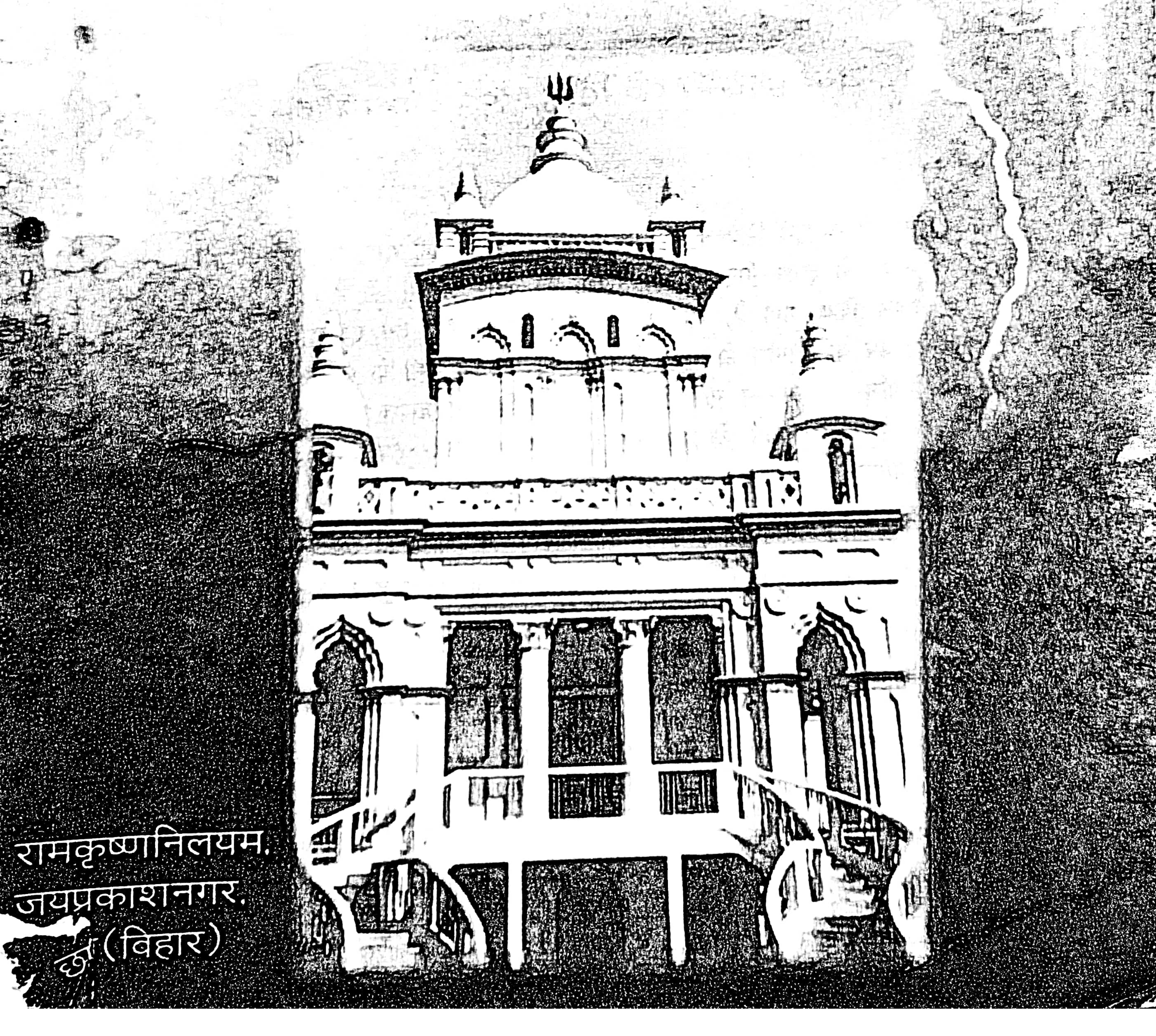

RAMAKRISHNA MISSION VIDYAPITH

A Residential Senior Secondary School

RAMAKRISHNA NAGAR, PO : VIDYAPITH
DT. – Deoghar, Bihar, Pin : 814412
RLY. STATION : BAIDYANATH DHAM, E. RLY.

Phone : (06432) – 22413 & 20442
Telefax : 22360
E-Mail - rkmvidya@dte.vsnl.net.in

एक निवेदन

वर्ग द्वादश के लिए एक छात्रावास

मित्रो,

आप लोग यह जानकर निश्चित रूप से अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर ने पिछले वर्ष अप्रैल से इन्टर (एकादश एवं द्वादश) की पढ़ाई आरम्भ की है। इसके लिए एक नये परिसर का निर्माण किया गया है, जहाँ प्रार्थना-भवन, पुस्तकालय, वर्ग एकादश के लिए छात्रावास, भोजनगृह, इन्डोरियम का निर्माण हो चुका है। लेकिन आर्थिक कमी के कारण वर्ग द्वादश के लिए छात्रावास का निर्माण-कार्य आरम्भ नहीं हो सका है, जबकि वर्ग द्वादश का सत्र जनवरी २००१ से आरम्भ हो चुका है। इस कार्य को पूरा करने के लिए १४ लाख रुपयों (४००० वर्गफीट के लिए रु. ३५० प्रति वर्गफीट की दर से) की आवश्यकता है।

अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान् एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर" के नाम से भेजे जाएँ।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा ८०-जी के अनुसार आयकर से मुक्त है।

५०,०००/- रुपये या उससे अधिक की राशि-दाताओं के नाम संगमरमर शिलाखंड पर अंकित किये जायेंगे।

देवघर
दिनांक : गुरुपूर्णिमा २०००

स्वामी सुवीरानन्द
सचिव

।। उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।।

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख

हिन्दी मासिकी

नवम्बर - दिसम्बर, 2001

प्रबन्ध-सम्पादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक

ब्रज मोहन प्रसाद सिन्हा

वर्ष २०

अंक ४-५

वार्षिक ६०/- एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क

(२० वर्षों के लिए) ७००/-

-: सम्पादकीय कार्यालय :-

विवेक - शिखा

रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर

छपरा : ८४१३०१ (बिहार)

दूरभाष : (०६१५२) २२६३६

इस अंक में

१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है ३

२. श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन ४

३. भगवदगीता का सार्वभौम सन्देश ५
- डॉ० रफीक जकरिया

४. त्याग और अनासक्ति १०
- स्वामी यतीश्वरानन्द

५. प्रार्थना की शक्ति का सदुपयोग २१
- स्वामी गोकुलानन्द

६. समाज सुधारक गुरू नानक २२
- डॉ० शारदा भाटिया

७. युगद्रष्टा महर्षि अरविन्द २४
- हनुमान सरावगी

८. मधुसुदन सरस्वती की अद्वैत सिद्धि २६
- गौरी देवी

९. ईसा मसीह का जन्म और बड़ा दिन २८
- सुमित ऑजमंड शॉ

१०. स्वामी माधवानन्द ३०
- डॉ० निवेदता बक्शी

विवेक शिखा

के आजीवन सदस्य

१९४. स्वामी निरन्जनानन्द - रा.कृ.मि. नरोत्तमनगर
१९५. श्री हरवंशलाल पाहड़ा - जम्मूतवी, कश्मीर
१९६. श्री योगेश कुमार जिंदल - दिल्ली
१९७. डॉ. अखिलेश्वर कुमार - कनखल
१९८. श्री अनिलकुमार पूनमचन्द जैन - नागपुर
२००. श्री डी.एन. देशमुख - चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)
१९९. डॉ० शीला जैन - बीकानेर
२०१. श्री योगेश कुमार पालिया, झुनझुनू (राजस्थान)
२०२. सचिव, रामकृष्ण वि. सेवाश्रम, अम्बिकापुर (म.प्र.)
२०३. श्री ओमभक्त बुडाथोपी - डॉग, नेपाल
२०४. श्री ए.डी. भटटाचार्य - भद्रकाली (पं.बं.)
२०५. अध्यक्ष - हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा, सारण (बिहार)
२०६. श्री दीपक कुमार विद्यार्थी, काराधीक्षक गिरिडीह (बिहार)
२०७. श्रीमती निभा कौल - कलकत्ता
२०८. सचिव - रामकृष्ण मिशन, पोरबन्दर (गुजरात)
२०९. सचिव - रामकृष्ण मिशन, राँची (बिहार)
२१०. श्रीमती शुभा कामत - मुम्बई (महाराष्ट्र)
२११. श्री पंकज कुमार, सुबंसिरी (अ०प्र०)
२१२. श्री बी.एल. अग्रवाल, नगाँव (आसाम)
२१३. श्री कैलास खेतान, नगाँव (आसाम)
२१४. श्रीमती शोभा मनोत, कोलकाता
२१४. श्री संजय जिंतुरकर, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
२१६. श्री सतीश कुमार बंशल, शक्तिनगर (दिल्ली)

विवेक शिखा

के आजीवन सदस्य

विवेक शिखा के प्रकाशन की सुविधा को ध्यान में रखकर "विवेक शिखा" के "स्थायी कोष" की योजना बनायी गयी है। जो कोई कम से कम १०००/- (एक हजार) रूपये या इससे अधिक रूपये "विवेक शिखा" के "स्थायी कोष" के लिए दान देंगे वे इसके संरक्षक होंगे। विवेक शिखा में उनका नाम प्रकाशित होगा और वे आजीवन विवेक शिखा निःशुल्क प्राप्त करते रहेंगे। विवेक शिखा के जो आजीवन सदस्य हैं वे शेष रकम देकर इसके संरक्षक हो सकते हैं। यह योजना केवल भारत के दाताओं के लिए लागू हैं।

- *व्यवस्थापक*

संरक्षक सूची

१.	श्रीमती कमला घोष	- इलाहाबाद	- ३,०००/-
२.	श्री नन्दलाल टॉटिया	- कलकत्ता	- १,०००/-
३.	श्री हरवंश लाल पाहड़ा	- जम्मूतवी	- १,०००/-
४.	श्रीमती निभा कौल	- कलकत्ता	- १,०००/-
५.	डॉ. सुजाता अग्रवाल	- कर्नाटक	- १,०००/-
६.	श्रीमती सुभद्रा हाकसर	- कलकत्ता	- ५,०००/-
७.	स्वामी प्रत्यगानन्द	- चेन्नई	- १,०००/-
८.	श्रीमती रंजना प्रसाद	- दुर्गापुर	- १,०००/-
९.	श्री जी.पी.एस. धिमीरे	- काठमांडू	- १,०००/-
१०.	डॉ. निवेदिता बक्शी	- कुर्ला प०	- १,०००/-
११.	श्री उमापद चौधरी	- देवघर	- १,०००/-
१२.	श्री शत्रुघ्न शर्मा	- फतेहाबाद	- १,०००/-

।। उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।।
"उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो"

विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की प्रमुख
हिन्दी मासिकी

वर्ष २० नवम्बर-दिसम्बर अंक - ४-५

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा । निजानन्द में रखती अविचल विमल "विवेक शिखा"।।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

{ १ }

तुम यदि संसार में निर्लिप्त भाव से रहना चाहो तो पहले तुम्हें निर्जन में रहकर साधना करनी चाहिए । निर्जन में जाना जरूरी है - एक साल के लिए छह महीने के लिए, एक महीने के लिए या कम-से-कम बारह ही दिनों के लिए सही । एकान्त में रहते हुए ईश्वर का आन्तरिकता के साथ ध्यान-चिन्तन करना चाहिए - 'इस संसार में मेरा कोई नहीं हैं । जिन्हें मैं अपना समझता हूँ वे दो दिनों के लिए हैं - सब चले जानेवाले हें । भगवान् ही मेरे आत्मीयजन हैं । वे मेरे सर्वस्व हैं । हाय, उन्हें मैं कैसे पाऊँ ?' यही सब चिन्तन करते रहना चाहिए ।

{ २ }

योगी और संन्यासी सर्प के समान होते हैं । सर्प अपने लिए कभी बिल नहीं बनाता, वह सदा चूहे के बिल में रहता है । एक बिल नष्ट हो जाए तो दूसरे में चला जाता है । योगी-संन्यासी लोग भी, इसी तरह, अपने लिए घर नहीं बनाते । वे दूसरों के यहाँ रहते हैं-आज यहाँ तो कल वहाँ, इस तरह दिन बिताते हैं ।

{ ३ }

जो सच्चा भक्त है, जो आकण्ड भगवत्प्रेम का प्याला पीकर नशे में मतवाला बन गया है, वह सब समय सामाजिक बन्धनों को पालन नहीं कर सकता ।

{ ४ }

यदि मूर्तियों के बारे में चिन्मय-बोध रखकर पूजा की जाए, तो उनकी पूजा करते हुए पूजक को ईश्वरदर्शन तक हो जाता है, परन्तु जो मिट्टी या पत्थर समझकर मूर्ति की पूजा करता है उसकी पूजा का कोई फल नहीं होता ।

{ ५ }

जिस प्रकार मिट्टी का शरीफा या हाथी देखने पर सचमुच के शरीफा या हाथी की याद आती है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रतिमा देखने पर ईश्वर का ही स्मरण होता है ।

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन

मम हृद वृंदावन में

मूल बंगला भजन

(धुन-मनोहरसाही : ताल-झपताल)

हृदि-वृन्दावने वास
यदि करो कमलापति ।
ओहे भक्तिप्रिय ! आमार
भक्ति होवे राधासती ।। ध्रु० ।।

मुक्तिकामना आमारि,
होवे वृंदे गोपनारी,
देह होवे नन्देर पुरी,
स्नेह होवे मा यशोमती ।। १ ।।

आमाय धरो-धरो जनार्दन,
पापभार गोवर्धन,
कामादि छय कंसचरे
ध्वंस करो संप्रति ।। २ ।।

वाजाये कृपा-वांशरि
मनु-धेनुके वश करि,
तिष्ट हृदिगोष्टे
पुराओ इष्ट एइ मिनति ।। ३ ।।

आमार प्रेमरूप-यमुनाकूले,
आशा-वंशीवटमूले,
स्वदास भेवे सदयभावे,
सतत करो वसति ।। ४ ।।

यदि बोलो राखाल-प्रेमे,
बंदी थाकी ब्रजधामे,
तव ज्ञानहीन राखाल तोमार
दास होवे हे 'दाशरथि' ।। ५ ।।

–श्री दाशरथि राय

भावानुवाद

(राग-माँड़ : ताल-कहरवा)

मम हृद-वृंदावन में यदि तुम,
करो निवास नाथ कमलापति ।
भक्तिप्रिय प्रभो ! तव तो मेरी,
भक्ति बनेगी तव राधासति ।। ध्रु० ।।

यही मुक्तिकामना हमारी,
होगी तव वृंदा ब्रजनारी ।
देह बनेगी नंदपुरी औ,
स्नेह बनेगा मात यशोमति ।। १ ।।

धारण मुझको करो जनार्दन,
मैं ही पापभार-गोवर्धन ।
कामादि छहों कंसचरों का,
ध्वंस करो तुम नाथ शीघ्र अति ।। २ ।।

बजा-बजा निज कृपा-बाँसुरी,
मनोधेनु को बश कर लो हरि ।
चित्तगोष्ठ में राजमान हो,
पूर्ण करो इच्छा यही बिनति ।। ३ ।।

प्रेमरूप यमुना के तट पर,
आशा-वंशीवट है सुन्दर ।
सदा सदय हो स्वदास पर तुम,
करो वहीं स्वामी सतत वसति ।। ४ ।।

अगर कहो तुम 'ग्वाल-प्रेम ने,
बाँध रखा है मुझको ब्रज में ।'
तव तो ग्वाल बनेगा ये ही,
ज्ञानहीन तव दास 'दाशरथि' ।। ५ ।।

–सारदातनय

भगवद्गीता का सार्वभौम सन्देश

- डॉ० रफीक ज़करिया, मुम्बई

{१० फरवरी, २००१ को राज भवन, मुम्बई में रामकृष्ण संघ के वर्तमान परमाध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्द जी की पुस्तिका "सनातन धर्म" तथा गीता पर उनके भाष्य (Universal Message of Bhagawad Gita) के दो खण्डों की प्रस्तुति करते हुए चर्चित लेखक एवं पत्रकार डॉ० रफीक जकरिया के व्याख्यान का मूल-पाठ । अँग्रेजी में दिया गया डॉ० जकरिया का यह व्याख्यान "भवन्स जर्नल, खण्ड ४७, अंक १५ (मार्च १५, २००१) में प्रकाशित हुआ था । हिन्दी भाषी पाठकों के हित के लिए उक्त व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद स्वामी रंगनाथानन्दजी की अनुमति से यहाँ साभार प्रकाशित किया जा रहा है ।

अनुवादक हैं - डॉ० केदारनाथ लाभ ।}

शुरू में, मैं अपनी निजी बातें कहना चाहूँगा । स्वामीजी से मैं दो दशकों से अधिक पहले कोलम्बो (श्रीलंका) में मिला था । हम दोनों एक अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर-धर्म संगोष्ठी में भाग लेने के लिए आमंत्रित किये गये थे । उनका व्याख्यान, जो उदघाटन-सत्र का मुख्य आकर्षण था, सुनने के अतिरिक्त उनके साथ मेरे अनेक विचार-विनिमय हुए जिनसे हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में मेरा काफी ज्ञान-वर्धन हुआ । तथापि, व्यापक मानवतावाद के वाहक के रूप में हिन्दू धर्म के वास्तविक रूप का प्रकाश विकीर्ण करने में स्वामीजी तथा रामकृष्ण मिशन, दानों ने जो महान् योगदान किया है, उस पर यहाँ विस्तारपूर्वक चर्चा करने की मुझे जरूरत नहीं है । स्वामीजी की अध्यक्षता में रामकृष्ण मिशन निश्चय ही महत्तर यश-प्रतिष्ठा अर्जित करेगा ।

इस लघु पुस्तिका में, जिसमें १६८२ में शिकागो में हुए प्रश्नोत्तर सत्र की कार्यवाही सन्निहित है, स्वामीजी ने अपनी अप्रतिम-अद्वितीय शैली में हिन्दू धर्म के समक्ष उपस्थित कुछ अत्यन्त ज्वलन्त विषयों को समाविष्ट किया है । निस्सन्देह, स्वामी रंगनाथानन्दजी हिन्दूधर्म शब्द को पसन्द करते हैं, क्योंकि उनका कथन है कि यह शब्द मुगल काल में गढ़ा गया तथा इसका सम्बन्ध या सरोकार किसी धर्म-विश्वास की अपेक्षा क्षेत्र या राज्य से अधिक है । हिन्दुस्तान शब्द से हिन्दू शब्द निकला । उन्होंने कहा है कि हिन्दू जिसमें विश्वास करते हैं वह "सनातन धर्म" है, जो स्वामी रंगनाथानन्दजी के अनुसार "शाश्वत धर्म" है, जो समान आध्यात्मिक बन्धन से परस्पर संघबद्ध हुए अनेक धर्मों को अपने में अन्तर्विष्ट किये हुए है । स्वामी रंगनाथानन्दजी के अनुसार सनातन धर्म प्रतिबन्धक या रोक लगानेवाला नहीं बल्कि सर्वाश्लेषी अर्थात् सबको गले लगाने वाला धर्म है । यह संसार के समस्त धर्मों को इस तरह एक साथ करता है कि इनमें से प्रत्येक धर्म की अपनी स्वाधीनता बरकरार रहे । स्वामी रंगनाथानन्दजी इस कथन का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं - *"संसार आध्यात्मिक भोजन ढूँढ़ता है । यह ईसाई धर्म में, हिन्दू धर्म में, यहूदी धर्म में तथा इस्लाम धर्म में - सब में है । इन सभी विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में आध्यात्मिकता का विशाल भंडार है । प्रत्येक धार्मिक परम्परा ने महान् सन्तों और ऋषियों को उत्पन्न किया है । इसलिए, हमारे परम भौतिकवादी युग के लिए, जिसमें हमलोग रह रहे हैं, संसाधनों का एकत्रीकरण इस वर्तमान युग में उचित है । इस कार्य में जबर्दस्त सम्भावना है और आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण का आगमन एक ऊँचे स्तर पर इस प्रकार के सहयोग को सम्भव बनाता है । वे समन्वय के यथार्थ साकार रूप थे ।"*

इस पुस्तिका में मनुष्य स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज द्वारा निःसंकोच एवं निधड़क रूप से व्यक्त ऐसे विभिन्न विषयों के सम्पर्क में आता है जैसे पुनर्जन्म, वास्तविक (सच्चा) अथवा नकली (कच्चा) गुरू का स्थान, वेदान्त एवं अद्वैत की भूमिका, इन विषयों पर श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द द्वारा दी गयी व्यावहारिक व्याख्या तथा विज्ञान एवं धर्म में सम्बन्ध आदि । उन्होंने धर्मान्तरण तथा हिन्दू

धर्म का इस के प्रति रवैया के विवादस्पद प्रश्न पर भी विचार प्रकट किये हैं।

स्वामीजी जाति के विषय में भी चर्चा करते हैं तथा इसे एक "अप्रचलित या लुप्त सामाजिक प्रथा" कहते हैं जिसकी रीढ़ हमारे संविधान द्वारा तोड़ दी गयी है। वे आश्वस्त हैं कि लोकतंत्र इस प्रथा पर मृत्यु का घण्टा नाद करेगा। स्वामीजी (स्वामी रंगनानाथानन्दजी) के प्रति यथेष्ठ श्रद्धा के साथ मैं कहना चाहता हूँ कि मुझे तो ऐसा लगता है कि हमारे पूरे लोकतंत्र ने, अथवा जिस ढंग से इसका संचालन होता है, उसने जातिवाद को पुनर्जीवित किया है तथा इसे राजनीतिक रूप से इतना सशक्त होने दिया है कि इसने अनेकानेक समाज विरोधी तत्वों को जन्म दिया है तथा कुछ क्षेत्रों में जंगल राज एवं अव्यवस्थित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं जिसने उस लोकतंत्र के ही समुचित कार्य संचालन पर खतरा पैदा कर दिया है जिसकी स्वामीजी प्रशंसा करते हैं, परन्तु वास्तविकता में जो हमारे जन-जीवन को विनष्ट कर रहा है। विगत काल में गाँधीजी के प्रभाव में, लोकतंत्र ने उत्तम प्रशासन सुनिश्चित रखा। इन दिनों, हमारे राजनीतिक दलों द्वारा आचरित घोर जातिवादी राजनीति हमारे गणतंत्र की भव्य इमारत को ध्वस्त कर रही है।

फिर भी, मैं इस बात से प्रोत्साहित हूँ कि स्वामीजी की भाँति यहाँ ऐसे धार्मिक नेतागण हैं जो अपने ढंग से ऐसे विस्फोटों के विरूद्ध संघर्ष कर रहे हैं तथा वास्तविक वेदान्ती मूल्यों को आगे बढ़ा रहे हैं, जो राजनीति को स्वच्छ एवं मानवीय बनाते हैं। ऐसे देव-मानव अपने अविच्छिन्न सतत कार्यों के द्वारा हमारी बहु-धार्मिक विरासत को न केवल सुरक्षित रख रहे हैं बल्कि उसे सुदृढ़ भी कर रहे हैं, जो विरासत अति प्राचीन काल से हमें प्राप्त हुई है। यही वजह है कि जैसा स्वामीजी ने संकेत किया है कि यद्यपि मिस्र, यूनान तथा ईरान की सभ्यताएँ समाप्त हो गयी हैं, तथापि भारत की सभ्यता समृद्ध होती जा रही है। एक उर्दू की चतुष्पदी (कता) उद्धृत करता हूँ।

यूनानो मिसरो रूमा,
सब मिट गये जहाँ से।
बाकी मगर है अब तक,
नामो निशां हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती,
मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन,
दौरे जमा हमारा।

इस पुस्तिका में स्वामजी ने "आदान-प्रदान" के सुखद अन्तर-धार्मिक सम्बन्धों, जो भारत की विरासत हैं" पर जोर दिया है। वे (रोमन) कैथोलिक धर्म की उच्च आध्यात्मिककता, व्यावहारिक दक्षता तथा सेवा-भाव और इस्लाम की समानतावादी प्रकृति का उल्लेख करते हैं तथा बताते हैं कि वेदान्त इन परम्पराओं को सुदृढ़ करता है एवं इन्हें एक कर देता है।

फिर भी, मुझे बेशक कबूल करना पड़ता है कि अन्य धर्मावलम्बियों का दृष्टिकोण उतना व्यापक नहीं रहा है, यद्यपि इस्लाम में, जिसकी मुझे थोड़ी-बहुत जानकारी है, कुरान तथा पैगम्बर की हदीसें (परम्पराएँ) दोनों ही उसी दृष्टिकोण के अनुरूप हैं, जिन्हें इस पुस्तिका में स्वामी रंगनाथानन्दजी ने इतने भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। कुछ मुसलमान शासकों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए इन परम्पराओं (हदीसों) को दूषित या भ्रष्ट कर दिया था; परन्तु भारत तथा भारत के बाहर के मुसलिम विद्वानों, चिन्तकों और कवियों ने अपनी अनगिनत रचनाओं में हिन्दूधर्म के व्यापक मानवतावाद के इस भाव की प्रशंसा की है। समयाभाव ने मुझे विस्तार में जाने से रोक रखा है परन्तु मैं उर्दू के शाश्वत महानतम कबि गालिब की बनारस या काशी पर फारसी में लिखी लम्बी कविता की कुछ पंक्तियों को उदधृत करना बहुत पसन्द करूँगा, जिसमें उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में हिन्दुओं की इस पवित्रतम नगरी तथा परम पुण्य भूमि के आध्यात्मिक ऐश्वर्य एवं विस्मयकारी भव्यता तथा महिमा का वर्णन किया है; ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त प्रसिद्ध उर्दू लेखिका कुरर्तुल-ऐन हैदर द्वारा किया गया इसका अँग्रेजी में अनुवाद इस प्रकार है :-

-: हिन्दी भावार्थ :-

अल्लाह,
अनान्दपुंज, आह्लाद की हरित भूमि

धर्म का इस के प्रति रवैया के विवादस्पद प्रश्न पर भी विचार प्रकट किये हैं।

स्वामीजी जाति के विषय में भी चर्चा करते हैं तथा इसे एक "अप्रचलित या लुप्त सामाजिक प्रथा" कहते हैं जिसकी रीढ़ हमारे संविधान द्वारा तोड़ दी गयी है। वे आश्वस्त हैं कि लोकतंत्र इस प्रथा पर मृत्यु का धण्टा नाद करेगा। स्वाभीजी (स्वामी रंगनानाथानन्दजी) के प्रति यथेष्ठ श्रद्धा के साथ मैं कहना चाहता हूँ कि मुझे तो ऐसा लगता है कि हमारे पूरे लोकतंत्र ने, अथवा जिस ढंग से इसका संचालन होता है, उसने जातिवाद को पुनर्जीवित किया है तथा इसे राजनीतिक रूप से इतना सशक्त होने दिया है कि इसने अनेकानेक समाज विरोधी तत्वों को जन्म दिया है तथा कुछ क्षेत्रों में जंगल राज एवं अव्यवस्थित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं जिसने उस लोकतंत्र के ही समुचित कार्य संचालन पर खतरा पैदा कर दिया है जिसकी स्वामीजी प्रशंसा करते हैं, परन्तु वास्तविकता में जो हमारे जन-जीवन को विनष्ट कर रहा है। विगत काल में गाँधीजी के प्रभाव में, लोकतंत्र ने उत्तम प्रशासन सुनिश्चित रखा। इन दिनों, हमारे राजनीतिक दलों द्वारा आचरित घोर जातिवादी राजनीति हमारे गणतंत्र की भव्य इमारत को ध्वस्त कर रही है।

फिर भी, मैं इस बात से प्रोत्साहित हूँ कि स्वामीजी की भाँति यहाँ ऐसे धार्मिक नेतागण हैं जो अपने ढंग से ऐसे विस्फोटों के विरूद्ध संघर्ष कर रहे हैं तथा वास्तविक वेदान्ती मूल्यों को आगे वढ़ा रहे हैं, जो राजनीति को स्वच्छ एवं मानवीय वनाते हैं। ऐसे देव-मानव अपने अविच्छिन्न सतत कार्यों के द्वारा हमारी वहु-धार्मिक विरासत को न केवल सुरक्षित रख रहे हैं वल्कि उसे सुदृढ़ भी कर रहे हैं, जो विरासत अति प्राचीन काल से हमें प्राप्त हुई है। यही वजह है कि जैसा स्वामीजी ने संकेत किया है कि यद्धपि मिस्र, यूनान तथा ईरान की सभ्यताएँ समाप्त हो गयी हैं, तथापि भारत की सभ्यता समृद्ध होती जा रही है। एक उर्दू की चतुष्पदी (कता) उद्धृत करता हूँ।

यूनानो मिसरो रूमा,
सब मिट गये जहाँ से।
वाकी मगर है अब तक,
नामो निशां हमारा।
कुछ वात है कि हस्ती,
मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन,
दौरे जमा हमारा।

इस पुस्तिका में स्वामजी ने "आदान-प्रदान" के सुखद अन्तर-धार्मिक सम्वन्धों, जो भारत की विरासत हैं" पर जोर दिया है। वे (रोमन) कैथोलिक धर्म की उच्च आध्यात्मिककता, व्यावहारिक दक्षता तथा सेवा-भाव और इस्लाम की समानतावादी प्रकृति का उल्लेख करते हैं तथा वताते हैं कि वेदान्त इन परम्पराओं को सुदृढ़ करता है एवं इन्हें एक कर देता है।

फिर भी, मुझे वेशक कवूल करना पड़ता है कि अन्य धर्मावलम्वियों का दृष्टिकोण उतना व्यापक नहीं रहा है, यद्यपि इस्लाम में, जिसकी मुझे थोड़ी-वहुत जानकारी है, कुरान तथा पेगम्वर की हदीसें (परम्पराएँ) दोनों ही उसी दृष्टिकोण के अनुरूप हैं, जिन्हें इस पुस्तिका में स्वामी रंगनाथानन्दजी ने इतने भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। कुछ मुसलमान शासकों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए इन परम्पराओं (हदीसों) को दूषित या भ्रष्ट कर दिया था; परन्तु भारत तथा भारत के वाहर के मुसलिम विद्धानों, चिन्तकों और कवियों ने अपनी अनगिनत रचनाओं में हिन्दूधर्म के व्यापक मानवतावाद के इस भाव की प्रशंसा की है। समयाभाव ने मुझे विस्तार में जाने से रोक रखा है परन्तु मैं उर्दू के शाश्वत महानतम कवि गालिव की वनारस या काशी पर फारसी में लिखी लम्वी कविता की कुछ पंक्तियों को उदधृत करना बहुत पसन्द करूँगा, जिसमें उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में हिन्दुओं की इस पवित्रतम नगरी तथा परम पुण्य भूमि के आध्यात्मिक ऐश्वर्य एवं विस्मयकारी भव्यता तथा महिमा का वर्णन किया है; ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त प्रसिद्ध उर्दू लेखिका कुरर्तुल-ऐन हैदर द्वारा किया गया इसका अँग्रेजी में अनुवाद इस प्रकार है :-

-: हिन्दी भावार्थ :-

अल्लाह,
अनान्दकुंज, आहलाद की हरित भूमि

बनारस की शान को बनाये रखे,
उनकी रमणीय सुन्दरता
झिलमिलाहट, चमक-दमक, आभा और दीप्ति देखकर
एक रात मैंने
एक पुरातन द्रष्टा से
(जो काल-चक्र के रहस्यों को जानते थे)
कहा -
'महाशय, आप बखूबी महसूस करते हैं
कि साधुता, अच्छाई और श्रद्धा विश्वास
ईमानदारी और प्यार-मुहब्बत
ये सब इस दयनीय-मनहूस भूमि से
कूच कर गये हैं ।
बाप-बेटे एक दूसरे का
गला काटने पर तुले हैं,
भाई-भाई से लड़ता है,
एकता और सदभावना की
जड़ें खुद गयी हैं,
इन अशुभ लक्षणों के बावजूद
कयामत का दिन क्यों नहीं आया है ?
अन्तिम तूर्यनाद क्यों नहीं होता ?
विधाता ने इस पृथ्वी का
संहार क्यों नहीं किया है ?
ज्योतिर्मय चूड़ान्त ज्ञान वाले
उन श्वतकेशी वृद्ध व्यक्ति ने
काशी की ओर इशारा किय
और धीरे से मुस्कुरा दिया
उन्होंने कहा -
"शिल्पी (स्रष्टा) को
यह भवन (वाराणसी) प्रिय है, क्योंकि
इसी के कारण जीवन में रंगीनी और रौनक है
तथा नैतिकता, शुचिता, परोपकारिता और अच्छाई
बची हुई है
वह इसे ध्वंस करना और गिराना नहीं चाहेगा
और इसी से काशी के कारण
मानवजाति अब तक जीवित है ।

स्वामी रंगनाथानन्दजी कृत भगवदगीता के दो खण्डों में श्रीकृष्ण के उपदेशों तथा वर्तमान काल में उन उपदेशों की प्रासंगिकता का जीवन्त एवं विशद विवेचन किया गया है । उन्होंने गीता के प्रत्येक श्लोक की, आधुनिक विचार धारा तथा वर्तमान समय की आवश्यकताओं के आलोक में अत्यन्त विशिष्ट शैली में व्याख्या की है । वस्तुतः आज गीता पर पुस्तकों का अभाव नहीं है । संसार में ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गीता का अनुवाद नहीं हुआ है । सम्राट अकबर प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इसका फारसी में अनुवाद करवाया था ।

मैंने गीता सर एडवार्ड ऑर्नल्डस से लेकर एनी बीसेन्ट तक एवं गाँधीजी के , विनोबाजी के एवं राधाकृष्णन के तथा कुछ अन्य कई अँग्रेजी अनुवादों को पढ़ा है । वे सभी अनुवाद विभिन्नताओं से भरे हैं । वस्तुतः गीता पर गाँधीजी की पुस्तक मुझे स्वर्गीय श्री बी०जी० खेर द्वारा जो उन दिनों द्विभाषी बम्बई के मुख्य मंत्री थे, मेरे विवाह के अवसर पर उपहार स्वरूप प्रदान की गयी थी । तब से इसे मैंने बहुमूल्य निधि के रूप में संजोए रखा है । मैं स्वामी रंगनाथानन्दजी की गीता की व्याख्या को कई अर्थों में विलक्षण पाता हूँ । यह इहलौकिक और मनोहारी रूप से पांडित्यपूर्ण, दोनों हैं । प्रत्येक श्लोक की व्याख्या करने के क्रम में स्वामीजी न केवल आदि शंकराचार्य के अपने गीता भाष्य में कथित मन्तव्यों अथवा श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द द्वारा व्यावहारिक वेदान्त के रूप में प्रस्तुत इसकी व्याख्या के साथ इसके वास्तविक निहितार्थ तथा महत्व का वर्णन करते हैं बल्कि यह भी दर्शाते हैं कि किस प्रकार गीता सुकरात, अफलातून (प्लेटो) तथा अरस्तू जैसे कुछ महानतम ग्रीक दार्शनिकों के विचारों के भी समनुरूप है । श्रीकृष्ण के उपदेशों की गम्भीरता तथा जटिलताओं की व्याख्या करने के क्रम में स्वामी रंगनाथानन्दजी आपको अन्वेषण की एक ऐसी ज्ञान प्रदान करनेवाली यात्रा पर ले जाते हैं जहाँ आप बुद्ध, महावीर, ताओ, ईसा मसीह तथा पश्चिमी जगत के अधिकतर चिन्तकों और विचारकों से मिलते हैं । उनके विचारों का श्रीकृष्ण के सन्देश के साथ एक निश्छल-निष्कपट पारस्परिक वैचारिक प्रभाव का स्वामी रंगनाथानन्दजी वर्णन करते हैं । इन श्लोकों के वास्तविक अर्थ की गहरी समझ प्रदान करने

के लिए स्वामीजी (स्वामी रंगनाथानन्दजी) के द्वारा आइनस्टीन की भाँति महत्तम वैज्ञानिक या सर चार्ल्स शेरिंगटन की भाँति प्रसिद्ध तंत्रिका-विज्ञानी (न्युरोलोजिस्टस) वर्डरावर्थ तथा शेली की भाँति कविगण तथा जूलियन हक्सले एवं बर्ट्रेण्ड रस्सेल के समान दार्शनिक प्रस्तुत किये गये हैं । स्वामीजी प्रत्येक श्लोक में आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं अपेक्षाओं को सन्निविष्ट करते हैं तथा इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि अपने दैनिक कामकाजों या व्यापारिक लेन-देनों अथवा शैक्षणिक पेशों में शामिल या उलझे हुए रहकर भी मनुष्य को किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए तथा श्रीकृष्ण द्वारा उपदेशित कर्मयोग के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन या फर्जों को पूरा करना चाहिए, जो व्यक्तित्व या आत्म के विकास का चमत्कार है ।

इन दो खण्डों में मात्र ११ अध्याय सम्मिलित हैं, बचे हुए सात अध्याय एवं स्वामीजी द्वारा उनके भाष्य का प्रकाशन होना अभी बाकी है । (अब अंतिम तृतीय खण्ड का प्रकाशन हो चुका है । - अनुवादक)

परन्तु प्रत्येक अध्याय में एक चिन्तन या विचार-प्रक्रिया की पूर्णता है तथा एक बौद्धिक अन्तर-सम्बन्ध या पूर्वापर सम्बन्ध भी है जिसे स्वामीजी श्रृंखलाबद्ध करते हैं और इस प्रकार वे गीता में श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित उपदेशों की सुसंगति एवं अन्विति प्रदर्शित करते हैं ।

श्रीकृष्ण के उपदेशों के मूलभूत तत्वों को सदेव ध्यान में रखते हुए स्वामीजी द्वारा कुछ श्लोकों की विलक्षण व्याख्या तथा वर्तमान समय की आवश्यकताओं के साथ उन श्लोकों को जोड़ने के उनके तरीके की झाँकी आपको प्रस्तुत करने के लिए मैं केवल दो उदाहरणों का उल्लेख करूँगा । स्वामीजी लिखते हैं, "गीता में जिस विषय की अक्सर चर्चा होती है वह विषय कुछ ऐसा है जिसने शताब्दियों से हमारे भारतीय मानस को चिन्तित या परेशान कर रखा है । वह विषय है - *कर्म बनाम अकर्म* । मुझे कर्म क्यों करना चाहिए ? और यह भाव इस तरह से विकसित हो गया कि लोगों में अधिकाधिक आलस्य या अकर्मण्यता आ गयी । यह अकर्म संन्यासियों के लिए सुदृढ़ किया गया था परन्तु इसने धीरे-धीरे गृहस्थों के मन पर भी आक्रमण कर दिया और जब इस अकर्म के अर्थ को सही-सही नहीं समझा गया तब इसने इस देश का ही सत्यानाश कर दिया ।" श्रीकृष्ण ने उदघोष किया था कि कर्म-संन्यास (अकर्म) से कर्मयोग (कर्म) श्रेष्ठ है परन्तु उन्होंने यह चेतावनी दी थी कि "तुम्हारा कर्त्तव्य (अधिकार) केवल कर्म करना है कर्म के फलों में तुम्हारा कभी अधिकार नहीं है ।" मैं यहाँ इस बात का उल्लेख करना चाहूँगा कि इकबाल ने अपनी चिरस्थायी कृति *असरार-इ-खुन्दी* में कहा है "मानव जाति के बौद्धिक इतिहास में श्रीकृष्ण का नाम सदैव परम आदर एवं श्रद्धा-सम्मान के साथ लिया जाएगा क्योंकि यही वे परम प्रतापी व्यक्ति थे जिन्होंने अपने लोगों की दार्शनिक व्याख्याओं पर प्रहार किया तथा उनके समक्ष इस सत्य को प्रतिष्ठित किया कि त्याग का अर्थ पूर्ण अकर्म या निष्क्रियता नहीं है ।"

फिर गीता में यज्ञ की अवधारणा है जो मानवीय सम्बन्धों पर बल देता है । अपने विचारों पर बल देने के लिए स्वामी रंगनाथानन्दजी स्वामी विवेकानन्द की उक्ति उदधृत करते हैं *"हमारे उपनिषदों ने ठीक ही कहा है, अज्ञान ही सर्वप्रकार के दुःखों का कारण है । सामाजिक अथवा आध्यात्मिक, अपने जीवन को चाहे जिस अवस्था में दखो, यह बिल्कुल सही उतरता है । अज्ञान से ही हम परस्पर धृणा करते हैं, अज्ञान से ही हम एक दूसरे को जानते नहीं और इसीलिए प्यार नहीं करते ।"* श्रीकृष्ण विवेक पर पर भी जोर देते हैं । वे कहते है, "भले ही तुम परम पापी क्यों न हो, तथापि तुम विवेक के द्वारा समस्त पापों पर विजय प्राप्त कर लोगे ।" और बाद में श्रीकृष्ण जोड़ देते हैं, "विवेक को ज्ञान से संयुक्त कर ।"

स्वामी रंगनाथानन्दजी का समचित्तता के सिद्धान्त पर विस्तार परम रूचिकर है : अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था "हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है । वह वायु को रोकने की भाँति अत्यन्त दुष्कर है । उस मन को कैसे वश में किया जा सकता है ?" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया, "यह अनवरत अभ्यास और वैराग्य से वश में किया जा सकता है ।"

स्वामी रंगनाथानन्दजी कृत गीता के इन दो खण्डों में मुझे आनन्द मिला है तथा इनसे मैंने जो प्रबुद्धता प्राप्त की है उनकी आपके साथ ही मैं सहभागिता करना चाहता हूँ। तथापि, हमारे राष्ट्रीय मामलों में श्रीकृष्ण की भूमिका पर महान उर्दू गीतकार साहिर लुधियानवी के कुछ पदों का उल्लेख करते हुए मैं इस प्रस्तुति का समापन करना चाहूँगा-

कृष्ण ने वादा किया था के वो फिर आएँगे।
जब भी धरती पे गुनाहों का अँधेरा छाया।

जब भी जुल्म और शकावत का आलम लहराया।
कृष्ण ने वादा किया था के वो फिर आएँगे।

और जब ऐसे ही हालात ने पंजे गाढ़े।
जुल्म ने सुलिया वहशतने शिकंजे गाढ़े।

और भारत पे कड़ा वक्त पड़ा।
कृष्ण फिर आये गुलामों का लहू गरमाने ।।

मगर अबकी बार हम उन्हें देर से पहचान सके।
सारे संसार ने जब जान लिया तब कहीं जान सके ।।

हम बहुत देर में ये मान सके।
कृष्ण एक जात नहीं, एक अमल होता है।

कृष्ण एक सिलसिले-ए-अहदे बका है,
आज होता है कोई उसका ना कल होता है।

कृष्ण हर दौर में आता है नया रूप लिए।
कृष्ण हर दौर के अरमानों का फल होता है ।।

□□□

जीवन का आधार......

– नरेन्द्र मोहन

है आकांक्षा
हो रूपांतरण
हो, दिव्यता का अवतरण
न झकझोरे -
अंधड़ विचारों के
वंधन मनुहारों के
अशान्ति का बादल छटे
उद्वेलन हटे
न टूटे सिद्धांत
चित्त रहे शांत
आदर्श की बयार
लाये, जीवन में निखार
मूल्य न रूठें
संकल्प न टूटें
देख जीवन का चक्र
लगता, मृत्यु है वक्र
उत्पन्न होता -
श्मशान वैराग्य
पर, वह भी नहीं बदलता भाग्य

भजन, कीर्तन, आसन
योग, भक्ति, निदिध्यासन
जीवन नहीं बदल पाते
मंदिर, चैत्य, गुरुद्वारे
मार्ग नहीं बताते
मन फिर भी है दौड़ता
कभी हंसता, कभी रोता
गिरता और उठता
गढ़ता कल्पनालोक
करता विस्मृत स्वलोक
यह सब बदले
आये नव प्रभात
हो आनन्द की बरसात
झरे अनहत प्रपात
राग हटे
द्वेष छटे
प्रेम की चले बयार
प्रेम ही बने -
जीवन का आधार

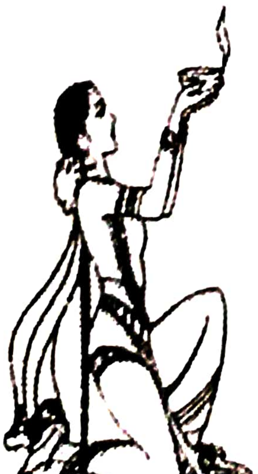

त्याग और अनासक्ति

- स्वामी यतीश्वरानन्द

त्याग की आवश्यकता

यह सचमुच बड़ी आवश्यक बात है कि इतना कष्ट भोगने पर भी लोगों की आँखें नहीं खुलती बल्कि नाना प्रकार के मिथ्या तादात्म्यों से चिपके रहते हैं। सारा संसार काम और कांचन की इच्छा से आबद्ध है। लोग इन्हें जीवन का लक्ष्य बनाते हैं और परिणाम में दुःख पाते हैं। अपनी तथा दूसरों की देह के साथ तादात्म्य स्थापित कर हम अनेक प्रकार के भावनातमक बन्धनों में पड़ जाते हैं तथा अन्तहीन कष्ट भोगते हैं। अवश्य ऐसे भी लोग हैं जो इन्हीं पर पलते हैं। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, ऊँट कँटीली झाड़ी खाता है और मुँह से रक्त बहने पर भी खाता ही जाता है। 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत..............।' लेकिन आध्यात्मिक साधक इस तरह जीवन यापन नहीं कर सकता। उसने अपने लिये एक उच्चतर लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और वह सांसारिक बन्धनों में अपना जीवन नष्ट नहीं कर सकता। अतः वह अनासक्ति और त्याग के विषय में गंभीरता से विचार प्रारंभ करता है।

सभी धर्मों में त्याग को आध्यात्मिक जीवन में प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। धन और लोभ का, काम और यौन प्रवृत्ति का, तथा अहंकार का, सभी धर्म शास्त्रों और सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तियों ने इन तीनों के त्याग पर बल दिया है। त्याग के विना आध्यात्मिक जीवन संभव नहीं है और त्याग का अर्थ केवल बाह्य त्याग नहीं है बल्कि मानसिक त्याग भी है। हमें अपनी देह तथा मन के साथ तथा दूसरों के देह-मन के साथ अपना सारा लगाव त्याग कर वास्तविक रूप से सभी प्रकार से अनासक्त और विरक्त होना चाहिये। कुछ वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के संदर्भ में ऐसा करते हुए भी दूसरों से और अधिक चिपके रहने से काम नहीं चलेगा। जिन्हें हम नहीं चाहते ऐसे व्यक्ति और वस्तुओं से दूर रहना और इसे त्याग कहना आसान है। सभी के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्त्तन सच्चा त्याग है।

त्याग आवश्यक क्यों है? हमें इतने वैराग्य और अनासक्ति का आभास क्यों करना चाहिये? वस्तुओं और व्यक्तियों के सहित पुराने सभी सम्बन्धों, जो साधक के सहायक नहीं हैं, का त्याग किये बिना सफलता पूर्वक आध्यात्मिक साधना नहीं की जा सकती। जिस मात्रा में हम अपनी इच्छाओं और वासनाओं को तथा दूसरों के प्रति हमारी रागात्मक अथवा आसक्ति को त्यागने के लिए तत्पर हैं, उसी मात्रा में हम सच्चे धर्म का सफलतापूर्वक पालन कर प्रगति कर सकते हैं। इस विषय में मन के धोखे में मत आओ। मन सदा कुछ न कुछ युक्ति युक्त सुझाने का प्रयत्न करता है - कि हम अमुक वस्तु को क्यों नहीं त्याग सकते, अथवा हमें अमुक व्यक्ति का संग क्यों करना चाहिये अथवा अमुक स्त्री अथवा पुरूष से बात करना हमारा कर्तव्य है इत्यादि। इन अवसरों पर अपने मन का कभी भरोसा न करें। वह तुम्हें धोखा देने के लिये सदा तत्पर रहता है और तुम्हारी अवचेतन अथवा अचेतन इच्छाओं की पैरवी करना चाहता है। अतः हमें केवल, पाप, ध्यान, प्रार्थना तथा अन्य साधनों की ही आवश्यकता नहीं है, लेकिन त्याग की भी आवश्यकता है। वस्तुतः जप और ध्यान इसी मात्रा में प्रभावशाली होते हैं, जिस मात्रा में हम अधिकाधिक त्याग और अनासक्ति अर्जित करते हैं। जव ये दो - आध्यात्मिक साधना और त्याग साथ होते तभी हमारे लिये मन को नियंत्रित करना तथा उसके दरारों और कोनों में अनन्त युगों में जन्म-जन्मान्तरों से अनेक प्रकार के जिस मैल को हमने जमने दिया है, उसकी सफाई प्रारंभ करना संभव होता है।

अत्यधिक सांसारिकता अग्नि के समान है। वह हृदय को जला देती है। वह व्यक्ति को प्रमादी और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति संवेदन विहीन वना देती है। सांसारिक व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन के आनन्दों को नहीं समझ सकता। सांसारिक व्यक्ति में प्रज्ञा की क्षमता इतनी क्षीण हो जाती है कि वह उच्चतर स्पन्दनों के प्रति और संवेदनशील नहीं रह पाता। उसे आध्यात्मिक सत्यों की कोई धारणा नहीं होती और वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं के दलदल या कीच में डूबा रहता है।

प्रेम और आसक्ति

जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों को हम चाहते हैं, वे हमारे मन को आकर्षित कर आसक्ति, राग और द्वेष की सृष्टि करते हैं। प्रेम और घृणा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इस विषय में कभी गलती न करना। अतः वे एक ही श्रेणी में आते हैं। द्वेष अथवा घृणा प्रेम अथवा आसक्ति का ही परिवर्तित रूप है। वह उससे मूलतः भिन्न नहीं है। सभी व्यक्तिगत रूचियों-अरुचियों से मुक्त एवं निर्वासन होकर हमें सभी प्रकार की आसक्तियों एवं सभी प्रकारों के भयों को दूर कर देना चाहिये। हमें विना कभी आसक्त हुए दयालु होना चाहिये। किसी पर अथवा किसी के प्रेम पर कभी भी व्यक्तिगत दावा नहीं करना चाहिये, और न ही हमें किसी को हम पर अथवा हमारे स्नेह पर व्यक्तिगत अधिकार जताने देना चाहिये।

ईश्वर को प्रेम करो और दूसरों को भी ऐसा ही करने दो। ईसा मसीह ने कहा है, "जो माता अथवा पिता को मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मेरे उपयुक्त नहीं हो सकता और जो पुत्र अथवा पुत्री को मुझसे अधिक प्रेम करता है वह मुझे पाने योग्य नहीं हो सकता।" और इससे सत्य और कुछ नहीं है और यह भी सत्य है कि जो, किसी व्यक्ति को उसे परमात्मा से अधिक प्रेम करने देता है, वह परमात्मा के लायक नहीं है, और भले ही वह कितनी ही मेहनत क्यों न करे, परमात्मा को प्राप्त कभी नहीं कर सकता। जैसी करनी वैसी भरनी होती है, और जव तक हम इन रूचि-अरूचियों के पाशों को हमें तथा दूसरों को तथाकथित प्रेम की जंजीरों से वंधने देंगे, तव तक हम वद्धदास वने रहेंगे तथा अपने और दूसरों के दुःख का कारण होंगे। दुःख हमारी आसक्तियों का जुर्माना है जो हमें चुकाना पड़ता है।

कुछ लोगों में यह शीघ्र आता है, कुछ में देर से, पर सभी को अपनी गलतियों का मूल्य चुकाना पड़ता है।

जव लोग हमें प्रेम करते हैं, जो हम फूले नहीं समाते। हम दूसरों के लिये आकर्षण बनना चाहते हैं, दूसरों के भोग के विषय के रूप में प्रिय वनना पसंद करते है। लेकिन प्रायः हम इतने व्यग्र और नासमझ होते हैं कि इस तरह हम अपने और दूसरों के लिये समस्याएँ पैदा कर अपनी आध्यात्मिक प्रगति को वन्द कर रहे हैं, यह नहीं जान पाते। हमें अपना आत्मसम्मान एवं सुरक्षा वनाये रखना चाहिये। हमें ऐसा रूख अपनाना चाहिये कि लोग हमारे निकट गलत उद्देश्य से आने का साहस न करें। मैं यह वात विशेषकर महिलाओं के लिये कह रहा हूँ। शौर्य की पाश्चात्य धारणा का आध्यात्मिक जीवन में कोई स्थान नहीं है।

भक्त और साधक हमारे अपने हैं, क्योंकि हम भगवत् भक्ति के लिए स्थायी सामान्य डोर से वंधे है। अपने आध्यात्मिक वन्धु के प्रति प्रेम सांसारिक प्रेम से कहीं अधिक गहरा और लाभकारी होता है। ईसा मसिह के शिष्यों, श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के परस्पर सम्वन्ध को देखो। कैसा मधुर प्रेम तथा एक दूसरे के प्रति आदर और सदभावना उनमें विद्यमान थी। श्रीरामकृष्ण के महान शिष्यों के संस्पर्श में आने पर, युवावस्था में हमने भी उनके हमारे प्रति तीव्र किन्तु पवित्र और निःस्वार्थ प्रेम के गहरे आकर्षण का अनुभव किया था। एक आध्यात्मिक व्यक्ति में ही दूसरों के प्रति सच्चा प्रेम होता है। सांसारिक लोगों का तथाकथित प्रेम प्रायः सूक्ष्म स्वार्थपरता ही है।

ज्ञानी व्यक्ति सभी को समान रूप से प्रेम करते हैं क्योंकि उन्होंने उपनिषद् के निम्नोक्त प्रसिद्ध कथन की सत्यता की अनुभूति की है :-

"पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता वल्कि आत्मा के लिये पति प्रिय होता है। पत्नी के प्रयोजन के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती वल्कि आत्मा के लिये पत्नी प्रिय होती है। पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते वल्कि आत्मा के लिये पुत्र प्रिय होते है।" सभी वस्तुएँ उनके प्रयोजन के लिये प्रिय नहीं होती वल्कि आत्मा के लिये प्रिय होती है।" (वृहदारण्यक उपनिषद् २:४:५)

ज्ञानी पुरूषों का जीवन हमें यह शिक्षा देता है कि त्याग और अनासक्ति का अर्थ उपेक्षा अथवा निष्ठुरता नहीं है। निष्ठुरता अनासक्ति नहीं है, वह स्वार्थपरता तथा स्वयं के अहंकार से चिपके रहना मात्र है। यथाशक्ति दूसरों की

सहायता करने का प्रयत्न करो पर उनसे आसक्त होने से बचने के लिये सभी सावधानियाँ बरतो । यदि ऐसा न कर सको तो दूसरों के कल्याण के लिये प्रभु से प्रार्थना करो । निष्ठापूर्वक तीव्र प्रार्थना करने पर तुम पाओगे कि जिन्हें तुम सहायता करना चाहते हो, उन्हें सहायता प्राप्त हो रही है लेकिन याद रखो. दूसरों के लिए प्रार्थना करने के लिए प्रभु के सान्निध्य का अनुभव होना चाहिये । यदि आसक्त हुए बिना रहा नहीं जा सकता. जो उनकी सहायता न करना ही अच्छा है । तुम्हारे लिये प्रार्थना करना ही श्रेयस्कर है । वस्तुतः सभी निष्ठावान साधकों को दूसरों के लिये की गई ऐसी प्रार्थना को अपने दैनंदिन साधना का अंग बना लेना चाहिये ।

सांसारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन के परिवर्त्तन के काल में कुछ समय के लिये हममें दूसरों के प्रति उपेक्षा आ सकती है । स्वयं की रक्षा के लिये हम उपेक्षा के मान को मन में स्थान भी दे सकते हैं, लेकिन आदर्श को स्वीकार करने तथा पवित्र जीवन यापन करने पर तुम पाओगे कि तुम्हारा दूसरों के प्रति पुरातन प्रेम पवित्र और उदात्त होकर पुनः आ गया है, जिसमें से आसक्ति दूर हो गई है, और उसका स्थान तीव्र भगवद् भक्ति ने ले लिया है । अब तुम दूसरों को बिना किसी स्वार्थ के परमात्मा के लिये प्रेम करने दो । केवल यही सच्चा प्रेम है । हमें दोनों खतरों से वचकर चलना चाहिये । प्रथम - दूसरों के प्रति मानवीय प्रेम रखना और उसे झूटमूठ दिव्य कहना, और दूसरा - अच्छी भावनाओं के प्रति भी अत्यधिक उपेक्षा और अपने कर्त्तव्यों की भी अवहेलना करना । ये दोनों ही आध्यात्मिक प्रगति के लिये हानिकारक हैं ।

सच्चे सम्बन्धी

हमारे बन्धु-बान्धव कौन है ? शंकराचार्य अपने एक स्तोत्र में कहते है । "बान्धवाः शिवभक्ताश्च" - शिव भक्त मेरे बन्धु हैं । (अन्नपूर्णा स्तोत्र, १२) अधिकांशतः जिन्हें हम अपने सगे-सम्बन्धी समझते हैं, वे हमारे लिये पूर्ण अजनबी होते हैं । वे एक बौद्धिक स्तर पर रहते हैं, हम दूसरे पर, जो निष्ठावान आध्यात्मिक साधक द्रुत आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हैं, उन्हें अपने ही घर में अजनबी की तरह रहना सीख लेना चाहिये । मित्र और सम्बन्धी अच्छे और धार्मिक हो तो उनका संग कर सकते हो । लेकिन यदि वे सांसारिक तथा आध्यात्मिक मनोवृत्ति के हों और अपने साथ तुम्हें भी नीचे खींचने का प्रयत्न करें, तो उनके संग का त्याग करना ही एकमात्र रास्ता है । तुम आगे बढ़ना चाहो और दूसरे सोये रहना चाहें तो तुम और क्या कर सकते हो ?

जिन्हें सांसारी और आध्यात्मिक सम्बन्धियों के साथ रहना पड़ता है, उन्हें अतिथि भवन में अतिथि की तरह रहना चाहिये । उन्हें स्वामित्व का भाव त्याग कर न्यासधरक का भाव लाना चाहिये । कभी किसी पर भावनात्मक अधिकार मत जताओ । वे तुम्हारी संपत्ति नहीं हैं । यदि तुम्हें कुछ रखना हो, तो एक न्यासधारी की तरह उसे अपने पास रखो स्वामी की तरह नहीं तथा परमात्मका की ओर से उसका संचालन करो ।

अपने परिवार के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना सीखो । विशुद्ध मानवी प्रेम अथवा द्वेष, आसक्ति अथवा विपरीत लिंग के आकषर्ण पर आधारित सभी पुराने सम्बधों से अपने मन को मुक्त करो । तभी वास्तविक आध्यात्मिक साधना संभव होगी । इसके पूर्व तक सभी साधना के प्रयास, तैयारी मात्र हैं; अधिक कुछ नहीं । किशोरावस्था में मैं बहुत भावुक था । एक दो बार मिलने पर ही मैं लोगों से अत्यधिक आसक्त हो जाया करता था । मैंने यह भी पाया कि मैं अपने मात-पिता, मित्रों एवं संबंधियों के प्रेम से अभिभूत हो जाया करता था, तथा उनके बारे में बहुत सोचा करता था । आखिरकार मेरे लिये ये भावनाएँ असह्य हो गई और मैंने अपने आप से दृढ़ता पूर्वक कहा : "इसे बदलना होगा ।" तब मैं अधिकाधिक निर्विशेष परमात्मा की ओर मुड़ा । सर्वव्यापी परमात्मा का विचार ही व्यक्तियों के प्रति हमारी आसक्ति से मुक्ति दिला सकता है । तुम्हें इसका चिन्तन इसी तीव्रता के साथ करना चाहिये कि यह तुम्हारे लिये यथार्थ, स्थायी और स्पष्ट हो जावे । यह विचार इतना तीव्र होना चाहिये कि वह हमें उस समय भी सहारा प्रदान कर सके, जब व्यक्तियों के विचार कभी न कभी बुदबुदों की तरह नष्ट हो जावेंगे । अन्य व्यक्तियों के विचार कभी न कभी बुदबुदों की तरह नष्ट हो जायेंगे । उस समय भी यह विचार तुम्हें संबल प्रदान करने में सक्षम होना चाहिये ।

द्वेष आसक्ति सा बुरा है

द्वेष भी राग या आसक्ति जैसा ही बुरा है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। जैसा कि मैंने पहले कहा है राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक को दूसरे से श्रेष्ठ समझने के भ्रम में कभी न पड़ें। दोनों ही बन्धन हैं और मानव को पतित करके उसे अपने वास्तविक स्वरूप तक उठने नहीं देते। दोनों का त्याग करना चाहिये।

क्रोध का प्रश्न ही लो। हम क्यों क्रोधित होते हैं ? क्योंकि जिसे हम अपने भोग का विषय समझते हैं, उनकी प्राप्ति के मार्ग में कोई व्यक्ति या वस्तु पड़ी है। यही हमारे सभी क्रोध का कारण है। यह हमेशा पाया जाता है। क्रोध का प्रबल व्यक्तित्वबोध अथवा अत्यधिक महत्त्व दिये गये अहंकार के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। प्रबल अहंकार और शारीरिक अथवा मानसिक भोगों की अस्वाभाविक इच्छा के विना क्रोध हमारे हृदय में उदित हो ही नहीं सकता। अतः यह अहंकार, यह भोगेच्छा ही हमारे क्रोध का एकमात्र कारण है। अगर हम भोग न चाहें, अगर हम किसी से कुछ भी अपेक्षा न रखें, बल्कि केवल देते जायें, और प्रतिदान की आशा के विना कर्म करते जायें, तो क्रोध कभी पैदा नहीं होगा। अतः हमें अपने क्रोध पर क्रोधित होना चाहिये, दूसरों पर नहीं। हमें भोग की वासना पर खूब क्रोध करना चाहिये, विषयों पर नहीं। क्रोध का उदात्तीकरण करके अन्ततः उसे विनष्ट कर देना ही एकमात्र व्यावहारिक उपाय है। और क्रोध तथा अन्य सम्बन्धित दुर्गुणों को बहुत हद तक दूर किये विना आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रगति नहीं हो सकती। काम और क्रोध आध्यात्मिक पथ के दो महानतम शत्रु हैं। अतः सभी साधकों को इनको सावधानी से दूर रखना चाहिये।

अतः जहाँ कहीं क्रोध है, वहाँ कुछ न कुछ आसक्ति अथवा अत्यधिक राग अथवा इच्छाएँ हैं। सच पूछो तो किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से आसक्ति के विना किसी भी प्रकार का क्रोध हो ही नहीं सकता। भोग की हमारी इच्छा के पूरी न होने के कारण ही क्रोध होता है। लेकिन इसे स्थूल अर्थ में नहीं बल्कि सूक्ष्म भाव से समझा जाना चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि कोई स्थूल भोगेच्छा क्रोध के मूल में विद्यमान हो।

कुछ लोग त्याग का अभ्यास करने में आक्रमक हो जाते हैं। यह इसलिये होता है कि आसक्ति के खिंचाव के कम होने पर द्वेष का खिंचाव अधिक हो जता है। अनेक साधना की प्रारंभिक अवस्थाओं में चिड़चिड़े और गरम-मिजाजी हो जाते हैं। यह उनके त्याग के अधूरे प्रयास की प्रतिक्रिया है। बाह्य त्याग के साथ सदा मानसिक अनासक्ति विद्यमान नहीं होती। मानसिक आसक्ति का बाह्य त्याग के साथ संघर्ष होता है, जो तनाव पैदा करता है। वास्तविक त्याग, राग और द्वेष का त्याग है।

सच्चे त्याग का अभ्यास करने पर हमें यह पता चलता है कि हम तबतक कैसा घृणित जीवन यापन कर रहे थे। हम यह भी अनुभव करते हैं कि अतीत का आकर्षण अब सबसे बड़ी बाधा है। इसके फलस्वरूप ग्लानि और पश्चाताप होता है। कुछ मात्रा में स्वस्थ और पुरूषोचित आत्म-विश्लेषण भले ही हो, पर हानिकारक अथवा नकारात्मक भावुकता कभी नहीं होनी चाहिये। "ओह! मैं कैसा पापी हूँ, कैसा अधम प्राणी हूँ।" ऐसा न कहो लेकिन ऐसा कहना सीखो "मैंने पहले भले ही बुरा काम किया हो पर अब वह समाप्त हो गया है। मैंने जाना है कि मैंने गलती की है लेकिन अब उसका चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है। अब मुझे नया अध्याय प्रारंभ करना है तथा भविष्य में बेहतर जीवन यापन करना है। भविष्य में मुझे अधिक सजग रहकर पशुतुल्य होने के बदले मानव होना सीखना है।" यह सही तरीका है। चाहे हम वृद्ध हों या युवा, हम सभी को आत्मा के राज्य में नया जन्म लेकर सत्य की ओर अपनी प्रगति प्रारंभ कर देनी चाहिये।

प्रारंभ में सावधानी बरतो

प्रारंभ में साधना के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं। बगीचे में जल-सींचने पर सुन्दर सुगन्धित गुलाब उगते हैं, लेकिन साथ ही बहुत से झाड़-झंखाड़ भी उगेंगे। अतः बहुत सी काट-छाँट, उखाड़ना आदि करना होगा। त्याग, आन्तरिक जंगल की निरंतर सफाई का कार्य है।

कभी हमारे हृदय में त्याग की थोड़ी सी आग प्रज्ज्वलित होती है, लेकिन हम उस पर सांसारिकता के गीले

द्वेष आसक्ति सा बुरा है

द्वेष भी राग या आसक्ति जैसा ही बुरा है । वस्तुतः दोनों एक ही हैं । जैसा कि मैंने पहले कहा है राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । एक को दूसरे से श्रेष्ठ समझने के भ्रम में कभी न पड़े । दोनों ही बन्धन हैं और मानव को पतित करके उसे अपने वास्तविक स्वरूप तक उठने नहीं देते । दोनों का त्याग करना चाहिये ।

क्रोध का प्रश्न ही लो । हम क्यों क्रोधित होते है ? क्योंकि जिसे हम अपने भोग का विषय समझते हैं, उनकी प्राप्ति के मार्ग में कोई व्यक्ति या वस्तु पड़ी है । यही हमारे सभी क्रोध का कारण है । यह हमेशा पाया जाता है । क्रोध का प्रबल व्यक्तित्वबोध अथवा अत्यधिक महत्व दिये गये अहंकार के साथ धनिष्ठ संबंध होता है । प्रबल अहंकार और शारीरिक अथवा मानसिक भोगों की अस्वाभाविक इच्छा के बिना क्रोध हमारे हृदय में उदित हो ही नहीं सकता । अतः यह अहंकार, यह भोगेच्छा ही हमारे क्रोध का एकमात्र कारण है । अगर हम भोग न चाहें, अगर हम किसी से कुछ भी अपेक्षा न रखें, बल्कि केवल देते जायें, और प्रतिदान की आशा के बिना कर्म करते जायें, तो क्रोध कभी पैदा नहीं होगा । अतः हमें अपने क्रोध पर क्रोधित होना चाहिये, दूसरों पर नहीं । हमें भोग की वासना पर खूब क्रोध करना चाहिये, विषयों पर नहीं । क्रोध का उदात्तीकरण करके अन्ततः उसे विनष्ट कर देना ही एकमात्र व्यावहारिक उपाय है । और क्रोध तथा अन्य सम्बन्धित दुर्गुणों को बहुत हद तक दूर किये बिना आध्यात्मिक जीवन में कोई प्रगति नहीं हो सकती । काम और क्रोध आध्यात्मिक पथ के दो महानतम शत्रु है । अतः सभी साधकों को इनको सावधानी से दूर रखना चाहिये ।

अतः जहाँ कही क्रोध है, वहाँ कुछ न कुछ आसक्ति अथवा अत्यधिक राग अथवा इच्छाएँ हैं । सच पूछो तो किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से आसक्ति के बिना किसी भी प्रकार का क्रोध हो ही नहीं सकता । भोग की हमारी इच्छा के पूरी न होने के कारण ही क्रोध होता है । लेकिन इसे स्थूल अर्थ में नहीं बल्कि सूक्ष्म भाव से समझा जाना चाहिये । यह आवश्यक नहीं है कि कोई स्थूल भोगेच्छा क्रोध के मूल में विद्यमान हो ।

कुछ लोग त्याग का अभ्यास करने में आक्रमक हो जाते हैं । यह इसलिये होता है कि आसक्ति के खिंचाव के कम होने पर द्वेष का खिंचाव अधिक हो जाता है । अनेक साधना की प्रारंभिक अवस्थाओं में चिड़चिड़े और गरम-मिजाजी हो जाते हैं । यह उनके त्याग के अधूरे प्रयास की प्रतिक्रिया है । बाह्य त्याग के साथ सदा मानसिक अनासक्ति विद्यमान नहीं होती । मानसिक आसक्ति का बाह्य त्याग के साथ संघर्ष होता है, जो तनाव पैदा करता है । वास्तविक त्याग, राग और द्वेष का त्याग है ।

सच्चे त्याग का अभ्यास करने पर हमें यह पता चलता है कि हम तबतक कैसा धृणित जीवन यापन कर रहे थे । हम यह भी अनुभव करते हैं कि अतीत का आकर्षण अब सबसे बड़ी बाधा है । इसके फलस्वरूप ग्लानि और पश्चाताप होता है । कुछ मात्रा में स्वस्थ और पुरूषोचित आत्म-विश्लेषण भले ही हो, पर हानिकारक अथवा नकारात्मक भावुकता कभी नहीं होनी चाहिये । "ओह! मैं कैसा पापी हूँ, कैसा अधम प्राणी हूँ ।" ऐसा न कहो लेकिन ऐसा कहना सीखो "मैंने पहले भले ही बुरा काम किया हो पर अब वह समाप्त हो गया है । मैंने जाना है कि मैंने गलती की है लेकिन अब उसका चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है । अब मुझे नया अध्याय प्रारंभ करना है तथा भविष्य में बेहतर जीवन यापन करना है । भविष्य में मुझे अधिक सजग रहकर पशुतुल्य होने के बदले मानव होना सीखना है ।" यह सही तरीका है । चाहे हम वृद्ध हों या युवा, हम सभी को आत्मा के राज्य में नया जन्म लेकर सत्य की ओर अपनी प्रगति प्रारंभ कर देनी चाहिये ।

प्रारंभ में सावधानी बरतो

प्रारंभ में साधना के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के परिणाम होते हैं । बगीचे में जल-सींचने पर सुन्दर सुगन्धित गुलाब उगते हैं, लेकिन साथ ही बहुत से झाड़-झंखाड़ भी उगेंगे । अतः बहुत सी काट-छाँट, उखाड़ना आदि करना होगा । त्याग, आन्तरिक जंगल की निरंतर सफाई का कार्य है ।

कभी हमारे हृदय में त्याग की थोड़ी सी आग प्रज्ज्वलित होती है, लेकिन हम उस पर सांसारिकता के गीले

कचरे को पुनः डाल देते है और वह आग बुझ जाती है। संसार के प्रति लगाव परमात्मा के प्रति हमारे थोड़े-बहुत प्रेम अथवा उत्साह को समाप्त कर देता है। इस त्याग और वैराग्य की अग्नि सदा जलाये रखनी चाहिये क्योंकि बाह्य और मानसिक कुसंग तथा हमारे अपवित्र मन की सभी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से इसके बुझने की संभावना सदा बनी रहती है। प्रारंभ में वैराग्य का पौधा कोमल होता है जिसकी चारों ओर बेड़ा लगाकर तेज हवाओं और पाले से रक्षा करनी पड़ती है अन्यथा वह तूफानों में अडिग रहने वाला दृढ़ वृक्ष नही बन सकता। व्यक्तिगत सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं और आसक्तियों से मुक्त होने पर हम अपने भीतर वैराग्य की महान अग्नि प्रज्ज्वलित करने में समर्थ होते है और इस तरह संसार से मुक्त हो जाते है।

अपने मन को शुद्ध और स्वच्छ करने के बदले उन्हें सभी प्रकार के व्यर्थ व अपवित्र विचारों से भरते रहने के कारण हमने अनासक्त और सुसंगत रूप से चिन्तन की क्षमता खो दी है। हमारा मन (अव्यवस्थित) आकुल स्थिति में रहता है अतः हमें सदा एक असन्तोष काटता रहता है। हमारे पास बहुत से विचार है, अच्छे विचार भी हैं, लेकिन निष्पक्ष , अनासक्त और क्रमबद्ध रूप से उन्हें सोचने की क्षमता नहीं है। प्रायः हम एक ही बात बारबार सोचते रहते है लेकिन वह सब व्यर्थ ही है। मन को नियंत्रित करने के लिये तुम्हें एक प्रशिक्षण के दौर से गुजरना होगा। प्रारंभ में साधना के लिये निश्चित समय निर्धारित कर लो और यथा संभव निर्जन में वास करो। बिना सोचे-विचारे लोगों से मत मिलो। पहले विभिन्न प्रकार के बहुत से चिन्तन-प्रवाहों को, जो तुम्हारे मन में एक दूसरे को निष्क्रिय बना रहे है, दूर करो। अन्यथा तुम सन्तुलित और निर्लिप्त मनःस्थिति नही रख सकोगे। वैराग्य, सच्चा वैराग्य आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक है। हम जो चाहते हैं, वैसी नहीं, बल्कि वस्तु स्थिति जैसी है, हमें उनका उसी तरह सामना करना है।

भागवत्प्रेम ही सच्चा त्याग है

आध्यात्मिक जीवन में त्याग और वैराग्य भागवत्प्रेम के साथ होने चाहिये। दूसरे की वृद्धि किये बिना पहले की वृद्धि के कारण ही बहुत से लोगों के लिये आध्यात्मिक जीवन कठिन हो जाता है। यदि त्याग के साथ परमात्मा के प्रति तीव्र अनुराग हो तो आध्यात्मिक जीवन एक अत्यंत आनन्ददायक उपक्रम हो जाता है। भगवत् भक्ति पूर्णता प्रदान करती है। अतः जो परमात्मा को सचमुच प्रेम करता है उसके लिये सच पूछो तो कोई त्याग नहीं, बल्कि संपन्नता ही है। वास्तविक भगवत्प्रेम किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम के बदले सभी के प्रति व्यापक प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस नये दृष्टिकोण के विकसित होने पर हमारा जीवन पूरी तरह बदल जायेगा क्योंकि यह नवीन दृष्टिकोण सभी अवरोधों को तोड़ देता है और सभी बन्धनों को काट देता है। जीव को सभी प्रकार से बाँधना और अवरुद्ध करना कर्म का स्वभाव है। लेकिन सभी कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित करने पर वही कर्म सभी बाधाओं को दूर कर देगा और सभी बन्धनों को नष्ट कर देगा। तब हम उनके हाथों के यंत्र मात्र बन जायेंगे तथा यह जान जायेंगे कि हम अपने कर्मों के कर्ता नही है। हमें परमात्मा के लिये मठ में, संसार में और सर्वोपरि अपने हृदय में स्थान बनाना चाहिये।

अतः सच्चे त्याग का अर्थ है, सर्वदा परमात्मा द्वारा हृदय को पूर्ण रखना। सामान्यतः हमारा मन वासनाओं और इच्छाओं के बोझ से दबा रहता है और जिस मात्रा में हम इस बोझ को कम करने में समर्थ होंगे, उतनी ही मात्रा में हृदय में परमात्मा के प्रकाश का अनुभव होगा। हमें चेतना के केन्द्र को स्वयं से हटाकर परमात्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये और तब हम पायेंगे कि परमात्मा में हमारे तथा सभी के लिये स्थान है।

झूठी आशाएँ-पिंगला की कथा

श्रीमद्भागवत में पिंगला नामक गणिका की एक कथा है, जो धन की बहुत लोभी थी। लेकिन एक दिन किसी के न आने पर उसे बड़ी निराशा हुई।

तस्याः वित्ताशया शुष्यद्, वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ ११ : ८ : २७॥

अर्थात वित्त की आशा से शुष्क मुख और दीनचित्त

कचरे को पुनः डाल देते हैं और वह आग बुझ जाती है । संसार के प्रति लगाव परमात्मा के प्रति हमारे थोड़े-बहुत प्रेम अथवा उत्साह को समाप्त कर देता है । इस त्याग और वैराग्य की अग्नि सदा जलाये रखनी चाहिये क्योंकि बाह्य और मानसिक कुसंग तथा हमारे अपवित्र मन की सभी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से इसके बुझने की संभावना सदा बनी रहती है । प्रारंभ में वैराग्य का पौधा कोमल होता है जिसकी चारों ओर बेड़ा लगाकर तेज हवाओं और पाले से रक्षा करनी पड़ती है अन्यथा वह तूफानों में अडिग रहने वाला दृढ़ वृक्ष नहीं बन सकता । व्यक्तिगत सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं और आसक्तियों से मुक्त होने पर हम अपने भीतर वैराग्य की महान अग्नि प्रज्ज्वलित करने में समर्थ होते हैं और इस तरह संसार से मुक्त हो जाते है ।

अपने मन को शुद्ध और स्वच्छ करने के वदले उन्हें सभी प्रकार के व्यर्थ व अपवित्र विचारों से भरते रहने के कारण हमने अनासक्त और सुसंगत रूप से चिन्तन की क्षमता खो दी है । हमारा मन (अव्यवस्थित) आकुल स्थिति में रहता है अतः हमें सदा एक असन्तोष काटता रहता है । हमारे पास बहुत से विचार है, अच्छे विचार भी हैं, लेकिन निष्पक्ष , अनासक्त और क्रमवद्ध रूप से उन्हें सोचने की क्षमता नहीं है । प्रायः हम एक ही बात बारबार सोचते रहते है लेकिन वह सब व्यर्थ ही है । मन को नियंत्रित करने के लिये तुम्हें एक प्रशिक्षण के दौर से गुजरना होगा । प्रारंभ में साधना के लिये निश्चित समय निर्धारित कर लो और यथा संभव निर्जन में वास करो । विना सोचे-विचारे लोगों से मत मिलो । पहले विभिन्न प्रकार के वहुत से चिन्तन-प्रवाहों को, जो तुम्हारे मन में एक दूसरे को निष्क्रिय वना रहे हैं, दूर करो । अन्यथा तुम सन्तुलित और निर्लिप्त मनःस्थिति नहीं रख सकोगे । वैराग्य, सच्चा वैराग्य आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक है । हम जो चाहते हैं, वैसी नहीं, वल्कि वस्तु स्थिति वैसी है, हमें उनका उसी तरह सामना करना है ।

भागवत्प्रेम ही सच्चा त्याग है

आध्यात्मिक जीवन में त्याग और वैराग्य भगवत्प्रेम के साथ होने चाहिये । दूसरे की वृद्धि किये विना पहले की वृद्धि के कारण ही बहुत से लोगों के लिये आध्यात्मिक जीवन कठिन हो जाता है । यदि त्याग के साथ परमात्मा के प्रति तीव्र अनुराग हो तो आध्यात्मिक जीवन एक अत्यंत आनन्ददायक उपक्रम हो जाता है । भगवत् भक्ति पूर्णता प्रदान करती है । अतः जो परमात्मा को सचमुच प्रेम करता है उसके लिये सच पूछो तो कोई त्याग नहीं, वल्कि संपन्नता ही है । वास्तविक भगवत्प्रेम किसी व्यक्ति विशेष के प्रति प्रेम के वदले सभी के प्रति व्यापक प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है । इस नये दृष्टिकोण के विकसित होने पर हमारा जीवन पूरी तरह वदल जायेगा क्योंकि यह नवीन दृष्टिकोण सभी अवरोधों को तोड़ देता है और सभी वन्धनों को काट देता है । जीव को सभी प्रकार से बाँधना और अवरूद्ध करना कर्म का स्वभाव है । लेकिन सभी कर्मफलों को परमात्मा को समर्पित करने पर यही कर्म सभी बाधाओं को दूर कर देगा और सभी वन्धनों को नष्ट कर देगा । तव हम उनके हाथो के यंत्र मात्र वन जायेंगे तथा यह जान जायेंगे कि हम अपने कर्मों के कर्त्ता नहीं है । हमें परमात्मा के लिये मठ में, संसार में और सर्वोपरि अपने हृदय में स्थान वनाना चाहिये ।

अतः सच्चे त्याग का अर्थ है, सर्वदा परमात्मा द्वारा हृदय को पूर्ण रखना । सामान्यतः हमारा मन वासनाओं और इच्छाओं के वोझ से दवा रहता है और जिस मात्रा में हम इस वोझ को कम करने में समर्थ होंगे, उतनी ही मात्रा में हृदय में परमात्मा के प्रकाश का अनुभव होगा । हमें चेतना के केन्द्र को स्वयं से हटाकर परमात्मा में स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये और तव हम पायेंगे कि परमात्मा में हमारे तथा सभी के लिये स्थान है ।

झूठी आशाएँ-पिंगला की कथा

श्रीमदभागवत में पिंगला नामक गणिका की एक कथा है, जो धन की वहुत लोभी थी । लेकिन एक दिन किसी के न आने पर उसे वड़ी निराशा हुई ।

तस्याः वित्ताशया शुष्यद, वक्त्राया दीनचेतसः ।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ।। ११ : ८ : २७ ।।

अर्थात वित्त की आशा से शुष्क मुख और दीनचित्ता

उस (पिंगला) को चिन्तन के फलस्वरूप परम निर्वेद प्राप्त हुआ जिसने उसे सुखी किया ।

वह सचमुच भाग्यशालिनी नारी थी । बहुत कम लोग उसकी तरह होश में आते हैं । उन्हीं पूर्व संस्कारों से परिचालित हो वे उन्हीं गलतियों को बारबार दुहराते हैं और उन्हीं घृणित अनुभवों को बारबार प्राप्त करते हैं । मेरे गुरूदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने एकबार कहा था :

तीन प्रकार के लोग हैं । पहले प्रकार के लोग दूसरों की गलतियों और अनुभवों को देखकर ही सीख लेते हैं और खतरों से बच जाते हैं । स्वयं गलती करने अथवा अनुभव करके सबक सीखने वाले मध्यम श्रेणी के हैं । अधम श्रेणी के लोग पुनः पुनः अनुभवों और गलतियों से भी नहीं सीखते ।

किसी भी सांसारिक वस्तु की आशा न रखो केवल परमात्मा की आशा करो । परमात्मा ही जीव को सुख दे सकते हैं । सभी वैषयिक वस्तुओं से हमें एक प्रकार की ग्लानि होनी चाहिये । संसार से वैराग्य का यह पहला लक्ष्य है । और इन्द्रिय विषयों एवं उनके सूक्ष्म अथवा स्थूल भोगों से इस वैराग्य के बिना कोई आध्यात्मिक जीवन, कोई उच्चतर प्रयास संभव नहीं है । जीवन में सफलता के लिये वैराग्य को हमारे चरित्र का प्रमुख अंग बन जाना चाहिये ।

सच पूछे तो हम इच्छाओं और आशाओं पर, और वह भी झूठी आशाओं पर, जी रहे हैं । इसके परिणाम से दुःख, बन्धन और इन्द्रियों की दासता आती है । आशाओं को, त्यागने पर हम सुखी होते हैं । हमें अपनी एकमात्र आशा को परमात्मा से संयुक्त करना चाहिये । भावनाओं और इच्छाओं से जुड़ी हुई अन्य सभी आशाओं को त्याग देना चाहिये । प्रायः हमारी आशाएँ हमारी इच्छाओं तथा दूसरों पर टिकी रहती हैं । हम अपनी आशाओं को परमात्मा में केन्द्रित नहीं करते ।

परमात्मा हमारी आत्मा की आत्मा के रूप में हमारे भीतर हैं । लेकिन हम उनकी फिक्र नहीं करते और दूसरों पर निर्भर होने का प्रयास करते है । परमात्मा सभी आनन्दों का स्रोत हैं । बाह्य विषयों में इस असीम दिव्य आनन्द का अंश मात्र प्रतिबिम्बित होता है । बाह्य पदार्थों के पीछे धावित होने का अर्थ है प्रतिबिम्वों और परछाइयों के पीछे दौड़ना ।

महाभारत में राजा ययाति की कथा है । एक शाप के कारण वह भरे यौवन में अचानक वृद्ध हो गया । लेकिन उसने अपने पुत्र का यौवन ऋण लेकर सैकड़ों वर्षों तक विषय सुख का उपभोग किया । इतने लम्बे समय के बाद भी उसने देखा कि विषय भोग की उसकी लालसा कम नहीं हुई थी तब वह निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।
(श्रीमदभागवत ९ : १९ : ४ और मनुस्मृति २ : १४)

अर्थात् काम के उपभोग से काम शान्त नहीं होता, बल्कि धी के द्वारा अग्नि जिस प्रकार बढ़ती है, उसी प्रकार अधिकाधिक वर्धित होता है ।

किसी न किसी दिन त्याग का भाव हममें उदित होना ही चाहिये । सभी में यह पिंगला में उपस्थित हुए परिवर्तन की तरह आकस्मिक रूप से भले ही न आये । लेकिन हमें ययाति की की तरह मूर्ख होकर अपनी सभी वासनाओं के संतुष्ट होने की प्रतीक्षा भी नहीं करनी चाहिये । यदि हम आध्यात्मिक जीवन से कुछ हासिल करना चाहते हैं, तो अनासक्ति को हमारे चरित्र का प्रमुख गुण हो जाना चाहिये । पूर्व अनुभवों के कारण बहुत सी प्रेरणाएँ हममें उदित होती हैं, लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि हम असहाय होकर उनके शिकार हो जायें, हमें उन्हें दबाना चाहिये । हम ऐसा कर सकते हैं, भले ही इससे कुछ समय तक जीवन आन्तरिक द्वन्द्वों और अत्यधिक तनाव का हो जाय । किसी न किसी दिन हमें अपने उत्तेजनापूर्ण जीवन का अन्त करना होगा । तो फिर अभी क्यों नहीं ?

हमें अपने कर्मों के बारे में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिये तथा सदा सावधान रहना चाहिए जिससे हमें परिचालित कर रही सूक्ष्म इच्छाओं और भावनाओं का अनुसरण कर ऐसा कार्य न कर बैठें जिन्हें हम नहीं

करना चाहते यदि। हम लोगों से मिलना चाहते हैं तो हमें यह जानकारी होनी चाहिये कि वे हमें आकृष्ट क्यों करते हैं। यदि किसी काम को करने की इच्छा हो तो यह जानना चाहिये कि हम वह क्यों करना चाहते हैं - उसके पीछे का वास्तविक हेतु क्या है। अपनी इच्छाओं के मूल कारण को खोजकर उसे तत्काल नष्ट कर देना चाहिये। सभी हानिप्रद विचार और संग तथा उन सभी बातों को जो आध्यात्मिक विकास में सहायक न हों, दूर कर देना चाहिये। सच्चा वैराग्य, त्याग, सभी साधना पद्धतियों में समान रूप से आवश्यक हैं। और बिना हम अपने आध्यात्मिक प्रयास से अधिक लाभ नहीं उठा सकेंगे।

आध्यात्मिक जीवन को प्रारंभ करने के पूर्व त्याग का मनोभाव होना चाहिये, भले ही इसमें समय लगे। पवित्रता की, आन्तरिक इच्छा और अभिलाषा होनी चाहिये। आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ करने की यह न्यूनतम शर्त है। इसका अर्थ है, महान तनाव। इन्द्रियों और उद्वेगों को नियंत्रित करने के लिये कठिन संघर्ष करना पड़ता है। लेकिन प्रत्येक साधक को लक्ष्य की दिशा में इस प्रारंभिक अवस्था से होकर गुजरना ही पड़ता है। त्याग का मनोभाव सभी सच्चे आध्यात्मिक प्रयास का आधार है। इस वैराग्य के भाव के विना आध्यात्मिक जीवन के विषय में सोचना भी नहीं चाहिये। उसके बदले किसी और कार्य में मन बहलाना समझदारी होगी।

वितृष्णा का भाव

अपने जीवन की गलती का आभास होने पर संसार के भोगों के प्रति वितृष्णा रूपी पहली प्रतिक्रिया होती है। जिस घृणा का पिंगला ने अपनी देह के प्रति अनुभव किया था, वह सांसारिक जीवन में अन्त में होने वाली पहली प्रतिक्रिया है। यह केवल पाप-वोध से होने वाले परिवर्त्तन से अधिक सम्यक् परिवर्तन का द्योतक है। अपने पापों का चिन्तन करने वाला उनसे चिपका भी रह सकता है। लेकिन ग्लानि का भाव सांसारिक जीवन से तत्काल आध्यात्मिक जीवन की ओर मोड़ देता है। आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने वाले व्यक्ति को पिंगला की तरह अपने से यह कहने में समर्थ होना चाहिये -

यदस्थिभिर्निर्मितं वंशवश्यस्थूणं त्वचा रोम नखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद् विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ।।
(श्रीमदभागवतम्। ११ : ८ : ३३)

अर्थात् अस्थियों रूपी बाँसों पर आच्छादित त्वचा, नख, रोम द्वारा निर्मित बहते नवद्वारों से युक्त और विष्ठा और मूत्र से पूर्ण इस देह रूपी घर को मेरे सिवा और कौन महत्व देगा।

आध्यात्मिक जीवन के प्रति अपने झुकाव को हम अपनी देह के प्रति घृणा के भाव से जान सकते हैं। यदि हममें यह भाव हो तो दूसरी देहें - स्त्री या पुरूष देहें - हमें आकर्षित नहीं करेंगी। तब वे हमारे आध्यात्मिक पथ के अंधकूप की तरह नहीं होंगी। पंतजलि अपने योग सूत्रों में कहते है :

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंर्ग (२ : ४०)

बाह्याभ्यान्तर शौच (के अभ्यास से) अपने शरीर से जुगुप्सा या घृणा और पर के साथ असंसर्ग का भाव प्राप्त होता है।

अधिकाधिक अन्तर्मुखी होने पर हमारा मन मानसिक एक्स-रे सा हो जाता है और हम चारों ओर जीये जा रहे जीवन के विषय में गहरी अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं। पहले ग्लानि का भाव आता है। इसके बाद मानव देह रूप कूड़े-करकट के पीछे विद्यमान आत्मा की महिमा का बोध होता। आत्मा की वास्तविक अनुभूति बाद में होती है, लेकिन प्रारंभिक अवस्थाओं में भी उसके सिद्धान्त को तो हृदयंगम किया जा सकता है।

बौद्धिक धारणाएँ पर्याप्त नहीं हैं। हमें भावनात्मक दृष्टि से भी प्रभावित होना चाहिये। हमे सचमुच सांसारिक भोगों के प्रति तीव्र वितृष्णा होनी चाहिये। भर्तृहरि की तरह हमें भी अनुभव करना चाहिये कि -

भोगान भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

(वैराग्य शतकम्)

अर्थात् भोगों को भोगा नहीं गया है, हम ही खाये गये हैं; तप नहीं किये गये हैं, बल्कि हम ही परितप्त हुए हैं। काल यापन नहीं हुआ है, हम ही जा रहे हैं। तृष्णा क्षीण नहीं हुई है, हम ही जीर्ण हुए हैं।

सन्तों के दृष्टान

वैराग्य की साधना हम सन्तों के जीवन से सीख सकते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव सन्त लाल बाबा का ही दृष्टान्त लो। प्रौढ़ावस्था तक उन्होंने भोगपरायण जीवन व्यतीत किया था। जब एक दिन घर लौटते समय उन्होंने धोबी की एक बालिका को अपने पिता से कहते सुना "पिताजी, देर हो रही है, "वासना" को आग कब लगाओगे। "वासना शब्द के बंगाली में दो अर्थ हैं। एक अर्थ है केले के वृक्ष की छालें जिन्हें सुखा और जलाकर धोबी पहले साबुन के बदले काम में लाते थे। इसका अर्थ पूर्व प्रसुप्त मानसिक संस्कार भी है। लाला बाबा ने शब्द का दूसरा अर्थ ग्रहण किया। उन्होंने अचानक अनुभव किया कि वे वृद्ध हो रहे हैं, और अभी तक अपने पूर्व अपवित्र संस्कारों का नाश नहीं किया है। उन्होंने उसी समय संसार कोई त्याग दिया।

उत्तरभारत के महान सन्त कवि तुलसीदास आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने के पूर्व अपनी पत्नी से अत्यधिक आसक्त थे। वे अपनी पत्नी पर इतने दीवाने थे कि एकवार उसके मायके जाने पर वे एक दिन के लिये भी उसका विरह सहन न कर सके। उसी रात को वे उसके पास दौड़ पड़े। इस पर उनकी पत्नी ने उन्हें झिड़कते हुए कहा "जिस तीव्र आसक्ति से तुम मेरी देह को चाहते हो, यदि उतना प्रेम तुम्हें भगवान के प्रति होता तो तुम सचमुच भगवान को पा जाते।" इन शब्दों ने तुलसीदास की आत्मा को आवरित कर रहे अज्ञान के आवरण को चीर डाला और वे तत्काल पत्नी सहित सवकुछ त्याग कर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो गये।

त्याग के प्रकार

हमें सन्तों के जीवन में पाये जाने वाली वैराग्य और करूणा की तीव्रता को कुछ माँ में अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। उपर्युक्त तात्कालिक संपूर्ण त्याग के दृष्टान्त विरल हैं। अधिकांश लोग जीवन में कठोर आघात खाने के बाद भी त्याग को केवल अस्थायी रूप में ही ग्रहण कर पाते हैं। वहुत से लोग बाद में "कामिनी-कांचन" में और अधिक आबद्ध हो जाते हैं और मानव-प्रेम के तमाशे में कठपुतली बन जाते हैं। तब वे कहते हैं, "ओह ! हम जानते हैं आध्यात्मिक जीवन क्या है। हमने भी कुछ समय तक उसका अनुसरण किया था। लेकिन वह इतनी मेहनत के योग्य नहीं है। इन मानव-सम्बंधों से युक्त यह सांसारिक जीवन बेहतर है। हम एक दूसरे के लिये बने हैं।" ये सारी बातें दुर्बल और अव्यवस्थित मस्तिष्क की द्योतक हैं।

त्याग तीन प्रकार के हैं

१. झूठा त्याग, जिसमें व्यक्ति बाह्य कर्मों का त्याग कर देता है लेकिन भीतर सांसारिक वस्तुओं और भोगों की तीव्र लालसा रखता है।

२. सच्चे साधक का आन्तरिक त्याग, जो पुरूषार्थ भरा अपने त्याग को बनाये रखता है, लेकिन जिसे सत्य के साक्षात्कार का सौभाग्य नहीं हुआ है।

३. सिद्ध पुरूष का सच्चा त्याग, जिसमें सभी द्वन्द्व और तनाव सदा के लिये समाप्त हो गये हैं।

एक प्रसिद्ध श्लोक है -

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयंवित्ते नृपालादभयं,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाभयम्।

शास्त्रे बाणिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्तादभयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

(भर्तृहरि, वैराग्यशतकम् : ३१)

भोग में रोग का भय है, उच्च कुल में सम्मान च्युत होने का भय है, वित्त में चोरी का भय है, मान में दैन्य का, बल में शत्रु का और रूप में जरा का भय है। शास्त्र ज्ञान में प्रतिवादी का भय हैं, गुणों में दुष्टों से निन्दा का और काया में मृत्यु का भय है। सभी वस्तुएँ भय ग्रस्त हैं, केवल वैराग्य ही भयरहित है।

मानसिक अनासक्ति

संसार का भौतिक त्याग करने मात्र से हम मन वचन और कर्म से तत्काल पवित्र नहीं हो सकते। पहले

कुकर्म का, उसके बाद बुरे विचारों का त्याग करो, जो कुकर्म त्यागं से अधिक कठिन है । बुरे विचार के बदले बुरी आदत त्यागना आसान है । चित की पवित्रता सबसे कठिन है । यह कठिनाई सापेक्ष नैतिकता के स्तर पर है जहाँ शुभ और अशुभ दोनों की सत्ता है । और जबतक हम इस स्तर पर रहते हैं, तब तक हमें अशुभ का त्याग कर शुभ को ग्रहण करने का प्रयत्न करना पड़ता है । पूर्व संस्कारों और आदतों के कारण अशुभ धुस आना चाहता है और कभी-कभी वह सफल भी हो जाता है । हमें इच्छाशक्ति का उपयोग कर उसके बदले शुभ विचार लाने पड़ते हैं । यह खींचतान सभी के लिये अनिवार्य है । आगे बढ़ने पर ही यह संघर्ष सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है, और स्थूल और प्राकृत स्तर के शुभाशुभ से ऊपर उठने पर हमें उनके सूक्ष्म रूपों का सामना करना पड़ता है ।

बुरे मित्रों का संग त्यागना बड़ा आसान है । हम आसानी से सांसारिक चर्चा और सांसारिक संग से दूर रह सकते हैं, लेकिन हमारे पूर्व सांसारिक मित्रों और उन जुड़े हुए अपवित्र विचारों का मानसिक संपर्क दूर करना कहीं अधिक कठिन और कष्टकर है । ऐसे में क्या किया जाये? अपने परित्यक्त मित्रों का "आन्तरिक" संग वास्तविक बाह्य संपर्क से कहीं अधिक खतरनाक है । सर्वप्रथम दृढ़ता पूर्वक सभी पूर्व संपर्कों को काट डालो और बाह्य जगत को नये संवेदनों से दूर रहो । इसके बाद कुछ आत्म विश्लेषण करो । पता लगाओ कि पूर्व स्मृतियाँ मन में क्यों उठती हैं । निमर्म विवेक के द्वारा सभी पूर्व स्मृतियों और छवियों से अपने को अलग करो । मन को निरंतर शक्तिशाली मंत्रणाओं द्वारा आसक्ति और द्वेष के जीवन की हीनता की प्रतीति कराओ, सभी पुरानी गर्द साफ करते रहो और सजग रहो कि नयी गर्द न जमने पाये । क्रमशः तुम देखोगे कि तुम्हारा मन स्वच्छतर और सवल हो रहा है ।

स्थूल और सूक्ष्म स्तर के सभी संघर्षो के दौरान हमें अपने इष्ट के नाम और रूप के शुभ चिन्तन में यथा संभव लगे रहकर अशुभ विचारों को दूर करना चाहिये लेकिन कभी-कभी दूषित कल्पना के कारण अपवित्र चित्र हमारे प्रयत्नों के बावजूद बहुत स्पष्ट हो जाते है । ऐसी स्थिति में पवित्र मंत्र का जप करते हुए हमें अपवित्र विचारों के प्रति एक साक्षी अथवा दृष्टा का रूख अपना कर उनके चंगुल से अपने को मुक्त करना चाहिये । विस्मृति के क्षणों में अशुभ विचारों के साथ तादात्म्य होने के कारण विना कोई बुरा कर्म किये भी हम उनसे मानसिक और शारीरिक रूप से प्रभावित हो सकते हैं । लेकिन अधिकाधिक सतर्क होने पर तथा तादात्म्य से वचने के प्रयत्न से उनके उठने के पहले ही हम उन्हें दूर रख सकते हैं । उच्चतर स्तर की यह अनासक्ति आत्मा की यह निर्लिप्तता साधकों को बहुत लाभप्रद होती है । सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति की उपलब्धि होने पर यह निर्लिप्तता स्वाभाविक हो जाती है ।

कुछ परिस्थितियों में अशुभ विचारों के उदय को रोका नहीं जा सकता, लेकिन अभ्यास द्वारा उनको मरीचिका के सदृश देखा जा सकता है, जिसके अनित्य रूप के बारे में जानकारी हो चुकी है । प्रतीति को रोका नहीं जा सकता लेकिन उसे प्रतीति के रूप में, सत्य के सदृश दिखाई देने वाली किन्तु जो स्वरूपतः असत्य है, के रूप में देखा जा सकता है ।

और नाम रूपात्मक दृश्य-जगत् की अनित्यता को तथा उसके साथ हमारे मिथ्या सम्बन्ध को पहचानने के लिये उसे पार्श्व में प्रतिष्ठित परमात्मा को देखने का प्रयत्न करना चाहिये । सभी स्थूल रूपों के पीछे विद्यमान परमात्म सत्ता को पहचानने पर हम सचमुच उनसे अप्रभावित रह सकेंगे । यदि संघर्ष के दौरान हम न्यूनाधिक मात्रा में उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं हरह सकते तो हमें इस च्युति का बारबार चिन्तन और अफसोस करने के बदले यथा संभव परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये ।

संसार वृक्ष

हिन्दु शास्त्रों में संसार की एक वृक्ष से तुलना की गई है । यह एक प्राचीन रूपक है - संसार वृक्ष की श्रीमदभागवत (११ : १२ : २२) में उसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है -

इस संसारवृक्ष के दो बीज, सौ जड़ें, तीन तने, पाँच मुख्य शाखाएँ, ग्यारह प्रशाखाएँ हैं । उससे पाँच प्रकार का रस निकलता है; उस पर दो पक्षियों के नीड़ हैं, वह

सूर्य तक विस्तीर्ण है, उसकी छालों की तीन परते हैं तथा वह दो प्रकार के फल देता है।*

यह वृक्ष सूक्ष्म ब्रह्माण्ड (देह) अथवा बृहत् ब्रह्माण्ड का प्रतीक हो सकता है। वृक्ष के विषय में सही ज्ञान होने पर उससे निकला जा सकता है। अपने तथा संसार के प्रति भी सही दृष्टिकोण होना चाहिये। यह वृक्ष महान ईश्वरीय शक्ति के गर्भ से उत्पन्न होता है। व्यक्ति और विराट के संपर्क को खोज निकालने के लिये मन को उच्चतर केन्द्रों पर उठाना पड़ता है।

वृक्ष की जड़ें हमारी असंख्य इच्छाओं और वासनाओं की प्रतीक हैं। ये इच्छाएँ, अपने व्यक्तित्व के प्रति यह आसक्ति और इन्द्रिय विषय-भोगों की तृष्णा हमारी समस्त समस्याओं के मूल कारण है। भक्ति और निष्काम कर्म इन जड़ों के पाश से हमें मुक्त करते हैं।

यदि सभी जड़ें कट जायें जो पूरा वृक्ष गिर जाये। लेकिन ऐसा विरले ही होता है। हम अधिक से अधिक अपनी कुछ वासनाओं को ही नष्ट कर पाते हैं। वची हुई जड़ों से वृक्ष जीवित रहता है। वासनाओं की सभी जड़ों को काटना इतना आसान नहीं है।

लेकिन हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यदि हमारी साधना हमारी निम्न प्रकृति को, वासनाओं की जड़ों को अधिकाधिक प्रकाशित करती है तो हमें हतोत्साह नहीं होना चाहिये। वहुत सी वुरी स्मृतियाँ और सहज वृत्तियाँ अचेतन मन में गहरी दवी हुई हैं। हमारे अनजाने वे वहाँ वहुत समय से पड़ी हुई हैं। यदि वे कभी ऊपर आने लगे तो हमें प्रसन्न होना चाहिये कि उनको पता चल गया है। हमारे अन्तर की वास्तविक स्थिति को जान कर हमें शान्त और स्थिर वुद्धि से अपनी सभी समस्याओं का समाधान खोजना चाहिये। इसके विपरीत यदि हम उन विचारों को छिपायें और केवल ऐसा दिखाएँ कि वे विद्यमान नहीं हैं तो हम स्वयं को ही धोखा देंगे और अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रूद्ध करेंगे। स्वयं के प्रति पूर्ण निष्कपट होना वहुत कठिन है। पर सचमुच निष्कपटता सर्वदा हमारे विकास की द्योतक होती है अगर अपने दोषों को स्वयं ही स्वकीार न करें, तो हम जीवन की समस्याओं का सामना करने का साहस कैसे कर पायेंगे ? अचेतन मन में वातों को छुपा रखना समस्या का समाधान नहीं है, लेकिन हम ऐसा सोच कर स्वयं को धोखा देते हैं।

ईसाई धर्म की पाप - स्वीकृति की प्रथा अचेतन मन की वातों को खाली करने की इस समस्या का आंशिक समाधान प्रस्तुत करती है। लेकिन यह सर्वदा सफल नहीं होता क्योंकि अधिकांश लोगों में साधना के अभाव में आत्मनिरीक्षण की क्षमता वहुत कम विकसित होती है। यही नहीं, इस रस्म से जुड़ी धर्मशास्त्र सम्वन्धी आनुष्ठानिक वातों का प्रायः उल्टा असर होता है।

दूसरा उपाय है, अचेतन मन से वुदवुदों की तरह उठ रहे विचारों को परमात्मा के सामने रखना। भगवान से अपने पूर्व संस्कारों से मुक्ति के लिये आन्तरिक प्रार्थना करो। प्रार्थना अचेतन मन को साफ करने का एक प्रभावशाली उपाय हो सकता है। अपने में उठ रहे निम्न विचारों से घवराओ मत। अन्य सभी वस्तुओं की तरह उन्हें भी परमात्मा को समर्पित कर दो। अवश्य यह उन्हीं के लिये संभव है, जिन्हें परमात्मा में अत्यधिक विश्वास है।

एक और तरीका है, संभवतः सर्वश्रेष्ठ और वह है उठ रहे सभी विचारों के, चाहे वे कितने ही बीभत्स क्यों न हों, साक्षी के रूप में स्थित रहना। किसी बुरे मनोवेग अथवा भावना को पहले पहचाने बिना उसके अस्तित्व को स्वीकार किये बिना वस्तुतः उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। हमारे मन में सैकड़ों अपवित्र विचार गहरे पड़ें हों, उससे क्या ? उनसे स्वयं को निर्लिप्त रखना अधिक

---

* इस श्लोक में कथित दो बीज पाप और पुण्य हैं, जड़ें असंख्य वासनाएँ हैं, तनें सत्व, रज और तमोगुण हैं, मुख्य शाखाएँ पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश) है; ग्यारह प्रशाखाएँ इन्द्रियाँ और मन हैं। रस पाँच इन्द्रिय विषय हैं; दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं; छाल की परतें रात, दिन और कफ प्रकृतियाँ हैं; तथा दो फल सुख और दुःख हैं।

महत्वपूर्ण है। जब हमारा चेतन मन उनसे तादात्मय स्थापित कर लेता है तभी वस्तुतः वे हमारे होते हैं और हमें कष्ट देते हैं। लेकिन यह जानकर कि आत्मा शुद्ध और निर्लिप्त है, हम साक्षी बने रह कर अपवित्र विचारों से अप्रभावित रह सकते हैं। साधक को इससे महान सहायता मिलती है। अपने वास्तविक स्वरूप का चिन्तन अधिक करो अपने विचारों-अच्छे या बुरों से तादात्म्य स्थापित करना बन्द करो। क्रमशः तुम अपने विचारों का अतिक्रमण करने में तथा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने में समर्थ होओगे।

ज्ञान-कुठार

श्रीमदभागवत में वर्णित संसार वृक्ष का उल्लेख किया गया है। उसे काटें कैसे ? श्रीकृष्ण उद्धव से इसे काटने का उपाय बताते है -

एवं गुरूपासनयैकभक्तया, विद्याकुठारेण शितेन धीर :।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः, सम्पद्य चात्मानमय त्यजास्त्रम्॥
(श्रीमदभागवत ११ : १२ : २४)

अर्थात् इस प्रकार एकनिष्ठ भक्ति से की गई गुरू की उपासना द्वारा ज्ञान की कुल्हाड़ी की धार पैनी करलो और धैर्य और सावधानी पूर्वक जीवाशय में दृढ़मूल संसार वृक्ष को काट डालो। फिर परमात्मा के साथ एक रूप होकर उन अस्त्रों को भी त्याग दो।"

मन की विवेक-शक्ति ही ज्ञान-कुठार है। भोड़ें अस्त्र से, स्थूल बुद्धि से कुछ भी नहीं मिल सकता। मन्द, आलसी मन से तुम कभी भी संसार वृक्ष को काट नहीं सकोंगे। निरंतर संघर्ष द्वारा मन को तीक्षण और सजग बनाये रखने पर ही वृक्ष छेदन की प्रक्रिया प्रारंभ की जा सकती है। इसमें समय, लंबा समय लगता है। आत्म स्वरूप की उपलब्धि न होने तक अस्त्र का त्याग नहीं किया जा सकता।

बहुत से लोग आध्यात्मिक जीवन यापन करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन बहुत कम लोग उसके कष्ट झेलने के लिये तैयार होते हैं। यही सारी कठिनाई है। विश्व के धर्मों के पुरातन ऋषियों के सन्देश को प्रतिध्वनित करती हुई स्वामी विवेकानन्द की वाणी सुनो -

"स्वर्ग में जाकर एक वीणा पाऊँगा और उसे बजाकर यथा समय विश्रामसुख का अनुभव करूँगा - इस बात की अपेक्षा मत करो। इस जगह एक वीणा लेकर क्यों न बजाना आरंभ कर दो ? स्वर्ग के लिये राह देखने की क्या आवश्यकता है ? इस लोक को ही स्वर्ग बना लो। स्वर्ग में विवाह नहीं होता, पाणिग्रहण नहीं होता। यदि ऐसा है, तो यहीं पर अभी से विवाह क्यों न बन्द कर दो ? संन्यासियों का गैरिक वस्त्र मुक्त पुरूषों का चिह्न है। संसारी भिक्षाओं का वेष छोड़ दो; मुक्ति की पताका - गैरिक वस्त्र धारंण करो......... पृथिवी में पवित्रतम और सर्वोत्कृष्ट जो कुछ है, उसे ईश्वर की वेदी पर बलिरूप में अर्पण कर दो। जो त्याग की चेष्टा कभी भी नहीं करते, उनकी अपेक्षा जो चेष्टा करते हैं, वे बहुत अच्छे हैं। एक त्यागी मनुष्य को देखने से भी हृदय पवित्र होता है। ईश्वर को प्राप्त करूँगा - केवल उन्हीं को चाहता हूँ - यह कहकर दृढ़ भाव से खड़े हो जाओ, संसार को उड़ जाने दो; ईश्वर और संसार, इन दोनों के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो। संसार का त्याग करो, केवल ऐसा करने से ही तुम देहवन्धन से मुक्त हो सकोगे। और इस प्रकार देह से आसक्ति हट जाने के वाद देह त्याग होते ही तुम आजाद या मुक्त हो जाओगें। मुक्त होओ, केवल देह की मृत्यु हमें मुक्ति नहीं दे सकती। जीवित रहते ही हमें अपनी चेष्टा द्वारा मुक्ति-लाभ करना होगा। तभी शरीर-पात हो जाने पर उस मुक्त पुरूष का फिर पुनर्जन्म नहीं होगा। .... "पवित्र हृदय धन्य हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।' जगत के सभी शास्त्र और सभी अवतार यदि लुप्त हो जायें, तो भी एकमात्र यह वाक्य समस्त मानव-जाति को वचा सकेगा। हृदय की इस पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होगा। विश्वरूपी समग्र संगीत में यह पवित्रता ध्वनित होती है। पवित्रता में कोई बन्धन नहीं। पवित्रता के द्वारा अज्ञान रूपी आवरण को दूर कर दो, ऐसा करने पर हमारा यथार्थ आत्मस्वरूप प्रकाशित होगा और हम जान जायेंगे कि हम किसी काल में वद्ध नहीं थे। नानात्व दर्शन ही जगत् में सबसे बड़ा पाप है। सबको आत्म-रूप से दखों तथा सबसे प्रेम करो। भेदभाव को पूर्णरूप से दूर कर दो।" *

* - देववाणी, विवेकानन्द साहित्य सप्तम खण्ड (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९६२ पृ० १०९ : ११८ : १२१)

प्रार्थना की शक्ति का सदुपयोग

- स्वामी गोकुलानंद
अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली

कभी-कभी, अच्छा बनने की पुरजोर कोशिशों के बावजूद, अपनी कुछ सीमाओं के कारण हम असफल हो जाते हैं। ऐसे समय में, यह जरूरी हो जाता है कि हम अपने अंतर्निहित भगवान से शक्ति एवं सहायता के लिए प्रार्थना करें।

श्री रामकृष्ण परमहंस निरंतर कहा करते थे कि ईश्वर की अनुभूति ही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है लेकिन हमें शुद्ध भक्ति से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। हमें उनके चरण कमलों में पूर्ण भक्ति होनी चाहिए। ठाकुर हमें प्रभु से भरपूर इच्छा शक्ति के लिए प्रार्थना करने को कहते हैं, ताकि हम सही राह पर चलें एवं गलत रास्ते में भटक जाने से बचें। अगर हम अपनी सीमाओं एवं कमजोरियों से परिचित हैं, तो हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि हम अपनी इच्छा शक्ति से ऐसे व्यवधानों पर विजयी हों।

महज प्रार्थना करने से हम इस दुनिया में कुछ नहीं प्राप्त कर सकते। लगातार प्रार्थना एवं जप करने का उददेश्य है, अपनी इच्छा शक्ति का विकास, जिसके द्वारा हम प्रत्येक कार्य मे सफल हों। अपने मस्तिष्क के विकारों के कारण हमारी इच्छा शक्ति विकसित नहीं हो पाती। प्रार्थना के द्वारा ये विकार मिट जाते हैं। भगवान बुद्ध के अनुसार तव हम बुराइयों की जड़ों को पहचान कर उन्हें उखाड़ फेंकते हैं और तव हमें मानसिक शक्ति की प्राप्ति होती है। प्रार्थना के अलावा हमें अपने दोषों के लिए खुद अपनी ही निंदा नहीं करनी चाहिए। श्रीरामकृष्ण भावधारा के छठे अध्यक्ष, स्वामी विराजनांद, अपनी पुस्तक "टुवार्डस द गोल सुप्रीम" में लिखते हैं कि अपने दोषों के बारे में बात करने से हमारा बचा-खुचा आत्म-सम्मान भी जाता रहता है। अगर हममें बुराइयाँ हैं, तो उन्हें भगवान के समक्ष उसे स्वीकार कर, उन्हें त्यागने के लिए, शक्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

दूसरे शब्दों में, पहली जरूरत है कि हम स्वयं को प्रभु को अर्पित कर दें। हमें प्रभु को यह बताना चाहिए कि हम कितने असहाय हैं एवं हमें उनकी सहायता की कितनी जरूरत है। यह असहाय होने की स्थिति हमें पूर्ण समर्पण की अवस्था में पहुँचाती है। उस समय भगवान प्रकट हो। हमारे साहस की अभिवृद्धि कर हमें बुराइयों से दूर रखते हैं।

याद है, भगवान कृष्ण ने भगवदगीता के १८ वें अध्याय में अर्जुन से क्या कहा ? "अगर तुम असफल होते हो, तो मेरे समक्ष पूर्णरूपेण समर्पण कर दो। मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हारी पूरी मदद करूँगा।" इसलिए, निराशा एवं तनाव से बचने के लिए हमें आत्म-विश्लेषण एवं आत्म-निरीक्षण करना पड़ेगा।

आशा की किरणें वापस लाने के लिए सच्चा आत्म निरीक्षण एक साधन है। यह हमारे जीवन के लक्ष्य को उदधाटित करेगा।

हिन्दुस्तान टाईम्स
पटना के २६.०५.२००१ के अंक से साभार गृहीत

अनुवादक - बिमलकांत प्रसाद
भारतीय स्टेट बैंक, हथुआ

मैं अव उठकर अपने पिता के पास जाऊँगा और उनसे कहूँगा कि पिताजी मैंने स्वर्ग का विरोध किया है और आपकी दृष्टि में पाप किया है। अव इस योग्य नहीं रहा कि आपका पुत्र कहलाऊँ, मुझे अपने एक मजदूर की नाई रख लें।

- ईसामसीह

अवतरण तिथि, ३० नवम्बर

समाज सुधारक गुरुनानक

- डॉ0 शारदा भाटिया

सिख धर्म के संस्थापक गुरुनानक देव दिव्य पुरुष थे । वे एक समाज सुधारक, क्रांतिदर्शी, भक्त, युग-निर्माता एवं साहित्यकार थे । उन्होंने अपने अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर लोगों को रूढ़िवादिता एवं भेदभाव से बचने तथा विश्व-बन्धुत्व में विश्वास रखने का संदेश दिया । मुगल बादशाह बाबर के समकालीन गुरुनानक एक क्रांतिकारी का रूप धारण कर उपस्थिति हुए । उन्होंने पंजाबी भाषा में धार्मिक साहित्य की रचना की । उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वे एक सच्चे वैरागी और समदर्शी थे ।

सन्त गुरुनानक किसी जाति एवं सम्प्रदाय से परे महापुरुष थे । एक बार किसी ने उनसे पूछा कि वे किस जाति एवं सम्प्रदाय के हैं । उन्होंने कहा, "मैं संतों के सम्प्रदाय का हूँ । मेरी जाति वहीं है, जो हवा और अग्नि की है । मैं वृक्षों एवं पृथ्वी की तरह जीवन यापन करता हूँ और उन्हीं की तरह काटे जाने अथवा खोदे जाने के लिए तैयार हूँ । नदी की तरह मुझे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं कि कोई मेरी तरफ फूल फेंकता है या गन्दगी । चन्दन की तरह मैं उसी को जीवन्त समझता हूँ जिससे सुगन्ध निस्सरित होती है ।"

सत्य के पुजारी गुरुनानक भक्तिसूचक ब्राह्याडम्बरों के अत्यन्त विरोधी थे । परम्परागत कुरीतियों का उन्होंने विचारगत खंडन किया और ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिसके आधार पर सम्पूर्ण लोक का कल्याण हो सके । उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमानों में कोई साम्प्रदायिक भेद नहीं था । अपनी रचनाओं में उन्होंने दोनों के पाखण्डों का खंडन किया । हिन्दुओं के जप, तप एवं संयम को उन्होंने निरर्थक वतलाया और कहा कि इन सबकी साधना करने से अथवा पुण्य-दान आदि करने से तब तक कोई लाभ नहीं, जब तक सच्चे हृदय से परमात्मा की आराधना न की जाये -

जपु तपु संजमु साधिए, तीरथि कीजै वासु ।
पुन दान चंगिआईआं बिनु साचे किया तासु ।।

उन्होंने पाखण्डी ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए कहा कि वे ब्राह्मणों के वास्तविक कर्मों से अनभिज्ञ है । वे नाम को भूलकर धार्मिक वनने का अभिनय करते हैं और माया की मदिरा पीते हैं ।

नामु विसरि माइया मदु पीआ ।

नानक देव ने कहा कि दण्ड-कमण्डल तथा शिखा, सूत्र और धोती धारण कर तीर्थ स्थानों में भ्रमण करने से कोई लाभ नहीं । वास्तविक तत्व राम नाम है । उन्होंने योगियों के कंथा, मुद्रा आदि की निन्दा करते हुए कहा कि योग की प्राप्ति न कंथा धारण करने से होती है, न शरीर पर भस्म लगाने से ही होती है । यदि माया के वीच में रहकर माया से रहित रहा जाये तभी योग की प्राप्ति संभव है । उन्होंने योगियों से कहा कि बाह्य मुद्रा के स्थान पर आंतरिक मुद्रा धारण करो, वासनाओं का त्याग करो, अपने शरीर को ही कंथा बनाओ और ज्ञानेन्द्रियों को वश में करो, तभी तुम योग की वास्तविक युक्ति को प्राप्त कर सकते हो ।

नानक ने शाक्तों के पाखण्डों का भी खंडन किया और कहा कि होमयज्ञ आदि कर्म निरर्थक और ब्राह्याडम्बर मात्र हैं । यज्ञों में पशु-बलि पाखण्ड है । उनके मतानुसार शाक्तों को सत्य अच्छा नहीं लगता -

साकतु कूड़े सचु न भावै ।

उन्होंने मुसलमानों के आडम्बरों की भी निन्दा की और पाँच समय की पाँच नमाजों की चर्चा करते हुए कहा कि सत्य बोलना, हक की कमाई खाना, सबकी भलाई के लिए प्रार्थना करना, नीयत को साफ रखना तथा खुदा का यशगान करना ही पाँच समय की पाँच नमाजें होनी चाहिए तथा उच्च आचरण का कलमा पढ़कर मुसलमांन को सही अर्थों में मुसलमान बनना चाहिए -

पंजि निवाजा वखत पंजि पंजा पंजे नाऊ ।
पहिला सचु हलाल दुद तीजा खैर खुदाई ।

चउथि नीअति रासि गनु पंजवीं सिफति समाई ।
करणी कलमा आखि के ता मुसलमाणु सदाई ।

गुरु नानक ने कहीं-कहीं हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ सचेत करते हुए बताया है कि पाखण्ड त्याज्य है । एक सच्चा गृहस्थ बनकर परमात्मा की ओर उन्मुख होने का ढंग बतलाते हुए उन्होंने कहा कि योगी, ब्राह्मण तथा काजी को सही अर्थों में गृहस्थ बनना चाहिए और बाह्य उपकरणों को त्याग कर सच्ची भक्ति में तल्लीन होना चाहिए । इन्हीं सद्गुणों के द्वारा मनुष्य गंगा के जल की भाँति निर्मल, स्वच्छ तथा पवित्र हो सकता है । उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही सत्कर्म करने की प्रेरणा दी । उनके मतानुसार विना अच्छे और नेक कर्म के हिन्दू और मुसलमान दोनों को रोना पड़ेगा ।

बाबा आखे हाजिआ शुभ अमला बाझों दोवे रोई ।

उन्होंने दया और सहानुभूति की शिक्षा समाज के प्रत्येक वर्ग को दी और ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाने का सफल प्रयास किया ।

सन्त नानक शक्ति के एक पुंज थे । वे ऐसे लोक का संदेश लेकर आये थे, जो शाश्वत है, जिसमें देश और काल अपने भेद भूलकर एकत्र हो गये, जिसे हम प्रेम का लोक कहते हैं । उन्होंने अपने भगवान को भूतल के प्राणियों में ढूँढ़ा और अपने चारों ओर सतयुगी भावों का स्पन्दन उत्पन्न कर मानव कल्याण किया । वे एक ओर ईश्वर के प्रेमी थे, दूसरी ओर समाज के उच्चवर्गीय आचारों एवं भेदभावों के कठोर आलोचक । समाज को खोखला वना देने वाली प्रथाओं और रूढ़ियों को उखाड़ फेंकने का उन्होंने पूर्ण प्रयत्न किया । ब्राहयाडम्बर को त्याग कर उन्होंने कथन एवं कर्म में सामंजस्य स्थापित किया और दूसरों को भी यही संदेश दिया । प्रगतिशील मानव गुरुनानक अपने क्रांतिकारी विचारों द्वारा जनता में एक नवीन जागृति लाकर भेदभाव रहित आदर्श समाज का निर्माण करना चाहते थे । अतः उनके आदर्शों द्वारा ही आज लोक कल्याण संभव है । ❋

तुम रात को आकाश में कितने तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के वाद उन्हें देख नहीं पाते । किन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते ! हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं ।

कोरे पाण्डित्य से क्या लाभ ? पंडित को वहुत सारे शास्त्र, अनेकों श्लोक मुखाग्र हो सकते हैं, पर वह सव केवल रटने और दुहराने से क्या लाभ ? अपने जीवन में शास्त्रों में निहित सत्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होनी चाहिए । जव तक संसार के प्रति आसक्ति है, कामिनी-कांचन पर प्रीति है, तव तक चाहे जितने शास्त्र पढ़ो, ज्ञान लाभ नहीं होगा, मुक्ति नहीं मिलेगी ।

ऊँचा उठना हो (महान् बनना हो) तो पहले नीचा (नम्र) वनना चाहिए । चातक पंक्षी का घोंसला नीचे होता है पर वह आसमान में वहुत ऊँचा उड़ता है । ऊँची जमीन में खेती नहीं होती, उसके लिए नीची जमीन चाहिए, जहाँ पानी जम सके । तभी खेती होती है ।

स्त्रियाँ स्वभाव से भली हों या बुरी, सती हों या असती, उन्हें सदैव आनन्दमयी जगन्माता की मूर्ति के रूप में देखना चाहिए ।

– श्रीरामकृष्ण परमहंस

युगद्रष्टा महर्षि अरविंद

- हनुमान सरावगी

महर्षि अरविंद एक चैतन्य एवं शाश्वत विचारधारा के प्रवर्तक के रूप में हमारे बीच विद्यमान हैं। आवश्यकता है उस विचारधारा को अंगीकार करने की। किन्तु हम अपनी परिधि में अनेक महत्वपूर्ण बिन्दुओं को सर्वदा अनदेखा कर जाते हैं, या समझ कर भी हम सहज मार्ग अपनाने का प्रयास करते हैं। हम कड़ा परिश्रम कर ऊँचाई की ओर बढ़ना नहीं चाहते जिसके परिणाम स्वरूप हम सत्य, प्रेम, निष्ठा या जीवन के उन मूल्यों को पा नहीं पाते जो हमारी परिधि में उपलब्ध है। हमें अपना जीवन सहज और कर्म प्रधान बनाने के लिए श्री अरविंद के मार्ग का चयन करना चाहिये, क्योंकि तात्कालिक या तत्क्षण लाभके प्रति मोह विश्व में विभेद और घृणा पैदा कर रहा है। यह तथ्य महर्षि अरविंद ने कई बार अपने व्याख्यानों में रख्रा है और वह राह दिखलाने की कोशिश की है, जो सहज तो नहीं है किन्तु जब मंजिल मिल जाती है, तब शाश्वत आनन्द का सागर हृदय में लहराता है। वह सुखकी पूँजी नश्वर धन से अधिक आत्मतुष्टि देती है। हम कह सकते हैं कि महर्षि अरविंद की बतायी राह वह राह है, जो आदमी के जीवन को सार्थक बनाती है और उसे सदकर्मका संदेश देती है।

महर्षि ने कर्म के दोनों स्वरूपों को भी स्पष्ट किया है। सदकर्म और दुष्कर्म को परिभाषित कर बहुत सारी द्विविधाओं से समाज को मुक्ति दिलाने का मार्ग बतलाया है। सच वोलने की भी प्रक्रिया है। कौन सा सच किसके सामने कव वोलना चाहिये, यह हम तभी अनुभव कर सकते हैं, जब हम विश्लेषण करने की क्षमता रखते हैं। गलत स्थान या समय पर बोला गया सच भी दुष्कर्म या पाप का कारण वन सकता है। इसी प्रकार झूठ वोलना सदा पाप होता है लेकिन यह भी आवश्यकता पड़ने पर सदकर्म या पुण्य कर्म को प्रेरित कर सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी जानकारी द्रोणाचार्य को दिलवाकर, सत्य और धर्म की विजय को सुनिश्चित किया। महर्षि अरविंद व्यक्तिको व्यावहारिक संवेदनशीलता से पुष्ट करना चाहते थे। एक बार महर्षि ने प्रश्न किया था आदमी इतना कुछ पा चुका है, अव और उसे क्या पाना है ? उन्होंने स्वयं प्रत्युत्तर दिया - प्रेम। यह जानते थे कि लोग 'प्रेम' का स्वरूप 'स्वार्थ' में निहित कर किसी से 'प्रेम' जताते हैं - यह प्रेम, प्रेम नहीं होता। ऐसे नाते अर्थहीन हैं। ईर्ष्या और हिंसा का कारण बन जाते हैं। स्वार्थ - सिद्धि का कारण बन जाते हैं। महर्षि ने प्रेम की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है - प्रेम नैसर्गिक होता है। और प्रेम से समाज में प्रेम बढ़ता है, शांति बढ़ती है और आनन्द प्रवाहित होता है। प्रेम सदा सर्वहित में होता है, वह मनुष्यता के गुणों एवं विशिष्टताओं को स्थापित करता है।

श्री अरविंद ने अपनी एक कविता में कहा है - 'शैशव काल में शिशु ईश्वर के तुल्य होता है।' एक बालक का माता से प्रेम निश्छल होता है। उसकी चंचलता में भी आनन्द की सुगंध होती है। उसकी हठ-लीला भी आनन्द प्रदान करती है। वास्तविकता में बालक मन, हृदय, प्राण और आत्मा से निः स्वार्थ होता है। लेकिन धीरे-धीरे जव वही बालक वड़ा होता है, उसका हर कदम स्वार्थ की ढलान पर चल पड़ता हैं और अन्ततोगत्वा ईश्वर या ईश्वरीय गुणों या प्राकृतिक गुणों से दूर हटकर अपनी मुख्य धारा से कट जाता है। महर्षि का संदेश है कि हर आदमी, अपनी प्रकृति को अपनाए और छदम सुख की ओर न वढ़े। छदम सुख असंतोष को बढ़ाता है और आदमी अनेकानेक जटिलताओं और दुःखों से घिरकर अपना जीवन स्वयं कष्टमय बना लेता है।

महर्षि ने शक्ति एवं सत्ता की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब कोई सत्ता युद्ध में जीत प्राप्त करती है, तो वह उन सभी मानवीय पक्षों पर विचार नहीं करती जहाँ वह हार चुकी होती है और अपनी कमजोरियों की उपेक्षा कर जाती है। सत्ता या शक्ति दोनों के दो भेद हैं - शाश्वत सत्ता एवं भौतिक सत्ता और शाश्वत शक्ति एवं भौतिक शक्ति। सत्य-प्रेम-स्नेह-सदव्यवहार की सत्ता शाश्वत

होती है और स्वार्थ हिंसा, लिप्सा, लाभकी सत्तां सदैव भौतिक होती है जो असंतोष एवं दुःख को जन्म देती है ।

महर्षि ने कहा है कि जब 'मन का जानवर' धर्म की लगाम से नियंत्रित होकर समाज में आगे बढ़ता है तो वह कृष्ण रूप हो जाता है, सार्वभौमिक हो जाता है ।

महर्षि अरविंद का संदेश है कि लोग अपनी मंजिल और उस तक पहुँचने की राह सत्य, धर्म, मानवीय आचरण और विवेक से निश्चित करें और हर कदम पर अपनी आत्मा को जागृत रखें । जिसकी आत्मा आलोकित नहीं होगी, उसमें सही और गलत का निर्धारण करने की क्षमता नही हो सकती । आत्मा उसी की आलोकित होती है जो स्वार्थ से ऊपर उठकर सतकर्म करता है । मानव अपना प्रयास अपने तक संकुचित नहीं रखे । अपने समस्त प्रयास भूतकाल के अनुभव, वर्तमान की आवश्यकता और भविष्य में उसके प्रभाव को देखकर करे जिससे कि प्रयास सदैव सार्वभौम हो । मानव का आह्वान करते हुए महर्षि अरविंद ने आनन्द से आनन्दित होने के लिए कहा है, जो स्थायी उपलब्धि है और इससे नैसर्गिक सुखों की अनुभूति होती है । महर्षि ने मानव-मानव में बढ़ते भेद और दूरियों को परखा और कहा है कि मानव का जन्म निश्चित कर्म के लिए होता है, अपने कर्म के माध्यम से अपना अलग व्यक्तित्व बनाने के लिए नहीं । व्यक्तित्व निर्माण की स्वार्थ - परक प्रक्रिया ने ही मानव-मानव के बीच विभेद पैदा किया है ।

महर्षि के विचारों से स्पष्ट है कि मानव का हर प्रयास 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' पर आधारित होना चाहिये । हर प्रयास समाज के हित में होना चाहिये । निःस्वार्थ मानवों के समाज में ही शाश्वत आनन्द का प्रवाह संभव है । ऐसे ही समाज में कृष्ण की बाँसुरी की सुरीली तान सर्वदा अवगुंजित हो सकती है ।

महर्षि ने कहा है, 'छोटी राह से प्राप्त भौतिक संपदा सुख से अधिक दुःख देती है जबकि शाश्वत सुख के लिए कठिन और लम्बी राह पर चलना होता है । जो सच्चा सुख चाहते हैं उनको उसी कठिन और लम्बी राह पर चलने की अनिवार्यता है । महर्षि अरविंद का दिव्य संदेश है कि सदकर्म की राह पर चलो और एक दिन कृष्ण के विराट् स्वरूप में सामहित हो जाओ अर्थात् जिसकी ऊर्जा से यह शरीर कार्य करता है, मृत्यु के बाद उसी ऊर्जा के स्वामी से जा मिलता है । यह मिलन मात्र कर्म मार्ग से ही संभव है ।" ❋

ईसामसीह की वाणी

हर एक अच्छा पेड़ अच्छा फल लाता है और निकम्मा पेड़ बुरा फल लाता है । अच्छा पेड़ बुरा फल नहीं ला सकता और न निकम्मा पेड़ अच्छा फल तु ला सकता है । जो पेड़ अच्छा फल नहीं लाता, वह काटा और आग में डाला जाता है । सो उनक फलों से तुम उन्हें पहचान लोगे ।

भला आदमी मन के भले भण्डार से भली बातें निकालता है और बुरा मनुष्य बुरे भण्डार से बुरी बातें निकालता है । क्योंकि जो मन में भरा है, वही मुँह पर आता है ।

कोई मनुष्य दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि वह एक से बैर और दूसरे से प्रेम रखेगा, या एक से मिला रहेगा और दूसरे को तुच्छ जानेगा । "तुम परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते ।"

इस कारण जो कुछ तुम चाहते हो कि मनुष्य तुम्हारे साथ करें, तुम भी उनके साथ वैसा ही करो, क्योंकि व्यवस्था और मसीहाओं की सीख यही है ।

सन्त चरित

मधुसूदन सरस्वती की अद्वैत सिद्धि

- गौरी देवी

'दिल्लीश्विरो वा जगदीश्वरो वा' अर्थात् दिल्लीश्वर साक्षात् भगवान है यह उक्ति दिल्लीश्वर के प्रजावर्ग की थी दिल्लीश्वर और उनके सभासदों का कथन है कि वेत्ति पारं सरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती । अर्थात् देवी सरस्वती की महिमा मधुसूधन सरस्वती ही जानते हैं और मधुसूधन की विद्यावत्ता सरस्वती ही जानती हैं । ये सारी बातें सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग की थीं । मधुसूदन सरस्वती के पूर्वज उत्तर प्रदेश के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । बारहवीं शताब्दी में स्वधर्म रक्षार्थ यह परिवार देश की पूर्वी दिशा में चला गया । पहले ये लोग नवद्वीप एवं तदुपरान्त फरीजपुर जनपद (जो वर्तमान में बंगलादेश में पड़ता है ।) में रहने लगे । मधुसूधन के पिताका नाम पुरन्दराचार्य था ।

उस समय अलौकिक प्रतिभा के धनी बालक मधुसूधन के पास प्रवीण लोग भी संस्कृत श्लोक रचना कराने के लिए आते थे । श्री मधुसूधनजी स्वरचित संस्कृत श्लोक द्वारा राजा कन्दर्प नारायण के पास राजकर चुकाने गये थे, परन्तु राजा ने उनका प्रत्याख्यान किया क्योंकि उनके राज्य को ग्रास करने के लिए शत्रुवर्ग चारों ओर से तत्पर थे ।

मधुसूधन के मन में भावान्तर हुआ । भगवान स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य के रूप में नवद्वीप में आविर्भूत हुए हैं । मधुसूधन को उस समय अत्यधिक कष्ट हुआ जब नवद्वीप पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि श्री चैतन्यदेव संन्यास ग्रहण करके पुरीधाम चले गये हैं ।

नवद्वीप में न्यायशास्त्र के अध्ययन के बाद उन्होंने वेदान्त दर्शन के अध्ययनार्थ काशी के लिए प्रस्थान किये । काशी में श्री रामतीर्थ उनके वेद्वान्त गुरु थे और आध्यात्मिक गुरू थे चतुषष्ठी घाट स्थित मन्दिर के समीप के दण्डीस्वामी श्री विश्वेश्वरानन्द सरस्वतीजी । इस ज्ञानक्षेत्र महातीर्थ में मधुसूधन और तुलसीदास जी का साक्षात्कार हुआ था ।

गोस्वामी तुलसीदास जी शास्त्रालोचना एवं धर्मोपदेश हिन्दी (मातृीभाषा) में ही देते थे । तत्कालीन विद्वत् समाज उससे स.न्तुष्ट नहीं था । इसके प्रत्युत्तर में गोस्वामीजी ने कहा कि-'हरिहर रान्दे स्वाद समाना' अर्थात् सोना या मिट्टी के बर्तन में पकाये गये अन्न का स्वाद एक जैसा ही है, परन्तु इस तर्क से भी जब विवाद का समाधान नहीं हुआ तो श्री मधुसूधन जी ने अपने पाण्डित्यपूर्ण तर्क द्वारा तुलसीदास जी के कथन की सत्यता का प्रतिपादन किया । इससे उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी ।

तदुपरान्त तीर्थ -- भ्रमण के लिए अपने गुरू के साथ श्री मधुसूधन जी ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया । उन्होंने अपने योग बल से सम्राट अकबर की वेगम को रोगमुक्त किया । सम्राट अकबर के वित्तमंत्री टोडरमल के प्रति भी उनकी विशेष अनुकम्पा रही । नागा सम्प्रदाय का प्रवर्तन भी इन्हीं के द्वारा हुआ था ।

काशी का चौसट्टीघाट ही उनका साधना स्थल था । ज्ञानपीठ काशी में ही अपने वेदान्दत गुरू के आदेश से उन्होंने गीता गूढ़ार्थ दीपिका ग्रन्थ की रचना की और यथेष्ट यश के भागी हुए । 'व्यासतीर्थ न्यायामृत' ग्रन्थ की रचना द्वारा शंकर का प्रभाव प्रभावित हुआ जानकर उसी के प्रतिवादस्वरूप उन्होंने अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ की रचना की । मधुसूधन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि अत्यन्त दुरवगाह (समझने में कठिन) ग्रन्थ है । दुनिया में इस ग्रन्थ को समझनेवाले कम ही लोग हैं । वास्तव में व्यासतीर्थ न्यायामृत में वेदान्त की ध्वनि परिलक्षित होती है तो मधुसूधन की अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ को न्यायामृत की प्रतिध्वनि कहा जा सकता है ।

मधुसूधन की अन्य रचनाएँ निम्न प्रकार हैं - (१) वेदान्त कल्पलतिका (२) सिद्धान्त सिन्धु भक्ति रसायन आदि १८ ग्रन्थ । अद्वैत सिद्धि रचना द्वारा श्री मधुसूधन जी पूर्ण कहलाये । गीता गूढ़ार्थ दीपिका द्वारा पूर्णतर और भक्ति रसायन ग्रन्थ रचना द्वारा वे पूर्णतम कहलाये ।

समय के प्रवाह ने आज श्री मधुसूधन जी को ज्ञान क्षेत्र काशी के गुणी ज्ञानी समाज से दूर प्रवाहित कर दिया परन्तु वे थे महायोगी पुरूष, इसलिए शताधिक वर्ष की वय में वे अपने न्याय के शिक्षक श्री मथुरानाथ एवं श्री गदाधर

पण्डित के दर्शनार्थ नवद्वीप गये । जराजीर्ण देह मथुरानाथ उस समय भी न्याय शास्त्रालोचना में लगे थे । नवद्वीप दर्शन के बाद ~~उन्होंने~~ सशिष्य मुक्ति क्षेत्र हरिद्वार की ओर प्रस्थान किया । अन्त में वे हरिद्वार महातीर्थ में ही ब्रह्मलीन हुए ।

अपने स्मृति स्वरूप वे मठ, मन्दिर, कुछ भी छोड़कर नहीं गये परन्तु स्वरचित ग्रन्थावली देश, समाज एवं जाति के लिए छोड़ गये । विलक्षण प्रतिभा के धनी श्री मधुसूधन सरस्वती आज समय के प्रभाव से समाज के सुधीजनों की दृष्टि के बाहर होते जा रहे हैं ।

यह तो संयोग ही था कि अद्वैतसिद्धि मधुसूधन सरस्वती नामक ग्रन्थ मुझे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इस ग्रन्थ के रचनाकार हैं 'मीरा वाणी प्रचार मन्दिर' नामक संस्था के प्रतिष्ठाता ८० वर्ष के वृद्ध भागवतरत्न श्री व्योमकेश जी । करीब १५ वर्षतक के निरन्तर अध्ययन एवं परिश्रम के बाद उन्होंने इस पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक की रचना की । इसके अतिरिक्त श्री मीरावाई, मीरा कहानी, आडवार अण्डाल, नरसिंह मेहता आदि भक्ति ग्रन्थ उन्हीं की रचना है । विगत अगस्त महीने में 'अद्वैतसिद्धि मधुसूधन सरस्वती' का लोकार्पण हुआ है । लोकार्पण के साथ ही पुस्तक यूरोप, अमेरिका एवं भारत के विद्वत समाज में विशेष रूप से समादृत हुई ।

इस पुस्तक की यह विशेषता है कि वेद एवं उपनिषद् काल से आजतक के करीव १७० मनीषियों की संक्षिप्त जीवनी एवं तत्सह उनकी ग्रन्थावलियों का प्रामाणिक परचिय इसमें उपलब्ध है । वाराणसी के चौसट्टीघाट स्थित दण्डीस्वामी विश्वेश्वर सरस्वती का मठ श्री मधुसूधनजी का तपोक्षेत्र रहा है । उसी स्थान पर स्वाधीन बांगला दशाधिपति महाराज प्रतापादित्य से मधुसूधन जी का साक्षात्कार हुआ था ।

– गौरी देवी

ईसा मसीह का जन्म और बड़ा दिन

– सुमित ऑजमंड शॉ

एक दिन यूसुफ ने स्वप्न देखा । स्वर्गदूत ने कहा 'हे यूसुफ, दाऊद की संतान, तू अपनी होने वाली पत्नी मरियम को मत त्याग, घर ले आ, क्योंकि जो उसके गर्भ में हैं, वह पवित्र आत्मा की ओर से है और वादी में खिले फूल की तरह पाक और पवित्र है ।' युसूफ उसे लाने गया और मरियम अपनी माँ से यह भी न कह सकी और विदा कर दी गयी............

मैं हूँ अम्मा तेरी गाय की बछिया
जित मोड़े मुड़ जाये............

और यही वह अलौकिक कुंवारी है जिसने शहनाइयाँ नहीं सुनीं, विवाह के गीत नहीं सुने, मेंहदी नहीं रचाई और एक माँ बन गयी...... माता मरियम । जिस दिन उसने प्रभु ईसा मसीह को जन्म दिया सारा बेतलहम खुशी से झूम उठा...... गणक गण पूजन आये जगराई ।

पूर्व दिशा ते पूछत आये, नछत्र के अनुयाई । येहु दिन के भूपाला कौने कहाँ जन्म की ठांई । तो तारा देख्यो दिग पूरब सोइ चले अगुआई । थकित भे आये गृह ऊपर जन्म यीशु जहाँ पाई । समीप आये दंडवत कीनहा, दर्शहिं नयन जुड़ाई । कुंदन अगरू धूपविध नाना, सोना रूप चढ़ाई । जय जय जय धरूं विश्वासी हुलसि हुलसि सिरनाई ।

यहीं से क्रिसमस की उत्पत्ति होती है । ईसाईजगत में मुख्यतः २५ दिसम्बर को ही प्रधानता दी जाती है । अनुमान लगाया जाता है कि विधर्मी-पैगस २५ दिसम्बर के लगभग जो विंटर सोल्सटिस मनाते हैं, संभवतः उसी से प्रभावित होकर चर्च के अधिकारियों ने यह तिथि चुन ली । मगर विश्वस्त रूप से यह कभी भी नहीं कहा जा सकता कि २५ दिसम्बर को ही ईसा की जन्म तिथ है । ईसाइयों के मतानुसार, सर्वप्रथम गड़ेरियों को ही स्वर्गदूत के

दर्शन हुए और...........

बियान में रात को एक फरिश्ता, गड़ेरिये पे जाहिए हुआ हुक्मेरब से, कहा, आज पैदा हुआ है मसीहा जहाँ को है फरेव ऐसे आली वसब से ।

परन्तु दिसम्बर माह में बेतलहम में बारिश तथा शीत का जोर रहता है । गड़ेरियों का खुले मैदान में भेड़ चराना किसी भी प्रकार युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता । अतः यह जन्मतिथि एक विवादग्रस्त प्रश्न को जन्म देती है । हाँ, 'क्राइस्टस मास' से है, यह निश्चित है ।

क्रिसमस को भारतवर्ष में 'वड़ा दिन' भी कहते है । इस दिन उपासना को अधिक महत्व दिया जाता है । प्रार्थनाएँ होती हैं, भजन गाये जाते हैं । भोजन का विशेष आयोजन होता है । भारत में केक, पुलाव, कोरमा, गुजिया, पेस्ट्रीज आदि खाये जाते हैं । इंग्लैंड में हंस का रोस्ट, स्वीडन, डेनमार्क और फिनलैंड में मछली-भात, ग्रीस, बाल्कन में चॉकलेट केक और अमरीका में पेरू रोस्ड, प्लम तथा मिस बनाये जाते है ।

क्रिसमस ट्री का भी इस वक्त काफी महत्व है । मार्टिन लूथर ने जंगल में एक दिन 'एवरग्रीन' का पेड़ देखा । उसकी पृष्ठभूमि में आकाश और तारे की सुषमा आदभुत थी । इस दृश्य को अपनी पत्नी को यथार्थ रूप से दिखाने के विचार से उस पेड़ की एक डाल तोड़ लाये । उसे घर में सजाकर उन्होंने उस पर मोमबत्तियाँ सजा दीं । वस इसी तरह क्रिसमस ट्री का प्रचलन शुरू हो गया । आज घर-घर में क्रिसमस ट्री सजायी जाती है । रंग-विरंगे वल्व, कागज, सितारे, उपहार सभी उस पर लटकाये जाते हैं । रोशनी में नहाया पेड़ क्रिसमस की खुशियाँ बाँटता नजर आता है ।

फादर क्रिसमस भी क्रिसमस का एक अहम हिस्सा है । चतुर्थ शताब्दी के विशप सेंट निकोलस अत्यन्त दानी प्रवृति के थे । एक वार एक निर्धन व्यक्ति की तीन पुत्रियों के हाथ पीले करने थे । दुल्हन की तरफ से भेंट देने में उन लड़कियों का पिता असमर्थ था । सेंट निकोलस ने दोनों पुत्रियों को सोने की थैलियाँ दीं । उनका विवाह हो गया । अंतिम पुत्री ने उपहार पाने की आशा में अपने मोजे भी चिमनी में टाँग दिये । आज ठीक उसी तरह बच्चे अपने-अपने मोजे क्रिसमस की पूर्व संध्या पर रखकर सोते हैं ताकि जव वे अगली सुवह जागें तो सेंट निकोलस उनके मोजे में उपहार भर गये हों ।

क्रिसमस मनाने के अनेक तरीके हैं । जलसों, रंगों और खुशियों का यह त्योहार एक नयी आशा जगाता है । एक नवजात शिशु के लिए सारा संसार भावविभोर हो जाता है । सभी नाचते हैं, गाते हैं, झूमते हैं । पर इन्हीं कहकहों के बीच बेतलहम के एक गौशाले में शायद एक कुंवारी माँ की आत्मा, आज भी चुपचाप वैठकर सोचती होगी......

हर तरफ हत्याएँ
लहू के छींटें
क्या इसी दिन के लिए
सलीब पर मैंने
अपना बेटा दिया था ?
किसी हिन्दू माँ से पूछो
किसी मुस्लिम माँ से पूछो
किसी भी माँ से पूछ लो
जब उसका बेटा...........
अकारथ चला जाता है
क्या बीतती है उस पर,
किसी माँ से पूछो,
सिर्फ माँ से पूछो..........

और जव तू प्रार्थना करे, तो कपटियों के समान न हो ; क्योंकि लोगों को दिखाने के लिए सभाओं में और सड़कों की मोड़ों पर खड़े होकर प्रार्थना करना उनको अच्छा लगता है । मैं तुझसे सच कहता हूँ कि वे अपना प्रतिफल पा चुके ।

–ईसा मसीह

स्वामी माधवानन्द (२)

- डॉ० निवेदिता बक्शी, मुम्बई

क्लान्तिहीन सतत् कार्यकर्त्ता :- हम थोड़े ही काम के बाद थक जाते हैं। या तो नींद आ जाती है या कुछ खाने को मन करता है। मन में कैसी उथलपुथल होती है ? पर माधवानन्द जी में क्लान्ति नामक कोई वस्तु नहीं थी। खाली समय में या कुछ खाने को मन करता है। मन में वे प्रूफ देखते थे। यहाँ तक कि क्रिस्टोफर ईशरऊड का प्रूफ भी उन्होंने ही देखा था। हर कार्य आनंद के साथ ठाकुर का कार्य समझकर करते वे थे। और सहकर्मियों से किस तरह काम कराया जाय वे जानते थे। हर काम उनके लिये महत्वपूर्ण था "मठ का कार्य सुचारू रूप से चलाते थे साथ-साथ सेवाकार्य भी करते जाते थे। १६४३ की महामारी और १६४५ में हिन्दू-मुस्लिम के दंगों में काफी जन-हित किया था। वे कोई भी काम जल्दी निपटाने के पक्ष में नहीं थे। वे कार्य की Quality के ऊपर ज्यादा विश्वास रखते थे। वाहरी आडम्वर और लोगों को दिखाकर काम करने के विलकुल खिलाफ थे। क्या हम उनका यह गुण जीवन में नहीं ढाल सकते हैं ? वाहरी दिखावे की आड़ में हम कर्म के महत्व को भूल जाते हैं।

स्पष्ट वक्ता :- वे कम वातों में अपने विचारों को सुचारू रूप से कहते थे। यह हमारे लिये सवसे वड़ी सीख है। वेकार की वातों में हम अपनी कितनी शक्ति खर्च कर देते हैं ! उनमें मानसिक अनुशासन काफी था। वे अगर किसी साधु पर गुस्सा भी करते थे तो निर्मल महाराज उसे स्पष्ट भाव से इस तरह समझाते थे कि उसकी आत्मशक्ति वढ़े और वह व्यक्ति अपनी गलती को समझे इसलिये किसी को उनकी डाँट खराव नहीं लगती थी। परन्तु वही डाँट उनके जीवन में आगे वढ़ने के लिये सहायक होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। एक वार एक साधु ने अपने वरिष्ठ साधु की वात नहीं मानी और अपने को वे सच्चा सावित करना चाहते थे। इसके लिये ट्रस्टी की मीटिंग वुलानी पड़ी। निर्मल महाराज ने कठोरता से उसे कहा कि वरिष्ठ संन्यासी की वात उसे माननी ही पड़ेगी अगर नहीं तो वे मठ छोड़कर जा सकते हैं। तो ये साधु मठ छोड़कर जाने लगे। जाते समय वे प्रणाम करने के लिये स्वामी शिवानन्द महाराज के पास गये। इतने में निर्मल महाराज आ गये और साधु को गले से लगा लिया तथा कहा देखूं तो तुम मठ छोड़कर किस तरह जा सकते हो ! वस, समस्या का समाधान हो गया ? उच्चकोटि के साधु का मन इसी तरह का होता है। निर्मल महाराज सभी कार्य करने के लिये प्रेरित करते थे। एकवार एक नवीन संन्यासी को अस्पताल का कार्यभार संभालने दिया गया। वे घवरा गये। माधवानन्दजी के पास जाकर उन्होंने अपनी अनभिज्ञता वतायी। महाराज ने उनसे कहा कि तुम जरूर सफल होओगे और उसे उचित परामर्श भी दिया। कालों में वे संन्यासी न केवल एक अस्पताल वल्कि साथ-साथ दो अस्पतालों को सुचारू रूप से चलाने लगे।

छोटी-छोटी साधारण बातों को घ्यानपूर्वक देखना :- निर्मल महाराज शिक्षा के वारे में खूव वढ़ावा देते थे। उनकी दृष्टि भी खूव पैनी थी। एकवार एक स्कूल के छात्रावास से एक छात्र के पलायन की खबर अखवार में छपी। उसी समय महाराज उसी स्कूल का परिदर्शन करने के लिये गये। वहाँ के शिक्षकों से उसी छात्र के वारे में पूछा। सव आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कहा कि वह छात्र जरूर लौट आयेगा और वोले Sympathy is the key word "सहानुभूति ही कुंजी है" सहानुभूति से शिक्षक को चाहिये कि छात्रों को परिवर्तन करे। थोड़े ही दिनों में छात्र लौटकर भी आया था।

गुरू की इच्छापूर्ति के लिये सतत प्रयास :- अपने कार्यकाल में उन्होंने माँसारदा की इच्छा की पूर्ति की थी कि स्त्री मठ की स्थापना हो। सन् १६५१ मे सारदामठ की भूमि का क्रय हुआ। १६५८ में सारदा मठ की स्थापना हुई। इसमें भी माधवानन्दजी ने अपनी दक्षता का परिचय दिया था।

युवाकाल से ही वे स्वामीजी के परम भक्त थे और उन्होंने सतत् प्रयास एवं ईश्वर की महाअनुकम्पा से स्वामीजी के तीन सपनों को साकार किया ।

स्वामीजी की पहली इच्छा :- बेलुड़ मठ को केन्द्र कर अलग-अलग तरह से शिक्षा संस्थानों का निर्माण होगा और वह विश्वविद्यालय का रूप ले । वहाँ प्राचीन गुरूकुल की शिक्षा दी जायेगी । १९८१ में माधवानन्दजी ने 'विद्यामंदिर' और सारदापीठ की स्थापना की ।

दूसरी इच्छा :- काशीपुर की उद्यानवाटी जहाँ ठाकुर श्रीरामकृष्ण कल्पतरू हुए थे, जहाँ पर उनकी जीवन लीला समाप्त हुई थी वह कृष्ण-गोपाल की जमीन थी उसे मठ के अधीन में लाना । यह कार्य भी निर्मल महाराज के हाथो सम्पन्न हुआ ।

तीसरी इच्छा :- श्रीरामकृष्ण का जन्म स्थान जो कि कामारपुकुर में है उसे मठ के अधीन लाना । यह काम भी निर्मल महाराज की कार्यकुशलता बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से संभव हो सका ।

विनोदशील :- माधवानन्दजी हालाँकि बहुत कम बोलते थे पर विनोदशील थे । एकबार वे Bengal Nagpur railway से यात्रा कर रहे थे । आजकल की तरह उन दिनों भी गाड़ी लेट हुआ करती थी । इसलिये उसको संक्षेप में B.N.R. कहते थे । स्वामीजी कहते थे इसका अर्थ है Be never regular.

और एक दिन की बात है । दो ब्रह्मचारी एक चौकी को खींच रहे थे और उन्हें बहुत तकलीफ हो रही थी । निर्मल महाराज ने जब देखा तो तुरंत कहा "चौकी को आदमी बनाओ और खींचो" अर्थात् चौकी को सीधा आदमी की तरह खड़ा करो और खींचो ।

वे रीडर्स डाइजेस्ट के चुटकुले हमेशा कहा करते थे । उनकी पढ़ने की पुस्तकें थी "कथामृत या वचनामृत, रीडर्स डायजेस्ट, टाईम मैगजीन और Astrological magazine वे ज्ञानी थे । कठिन से कठिन ग्रन्थों का अनुवाद वे सहजता से करते थे । सबको उनके प्रूफ देखने पर भरोसा था ।

निरभिमानता :- यह गुण उनके चरित्र की विशेषता थी । वे सुवक्ता सुपंडित और सुलेखक होकर भी निरभिमान थे । संघ के अध्यक्ष होकर भी वे ट्राम या बस में जाने के लिये संकोच नहीं करते थे । संघ का पैसा ठाकुर का पैसा है जिसे अपने लिये खर्च करना अनुचित समझते थे । अपनी बीमारी के लिये डाक्टर के पास खुद ही बस से जाते थे । ट्रेन की द्वितीय श्रेणी में जाना पसंद करते थे । अपने कमरे में अलग खाना नहीं खाते थे बल्कि सब साधुओं के साथ बैठकर खाना खाते थे ।

एकबार बेलुड़मठ में राँची आश्रम के स्वामी शांतानन्द आये । जैसे ही उन्होंने मठ में पदार्पण किया स्वामी माधवानन्दजी ने मठ का अध्यक्ष होते हुए भी उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम किया । शांतानन्द जी माँ सारदा के शिष्य थे । उसी समय माँ के दूसरे शिष्य जो प्रवीण थे माधवानन्दजी से बोले इतने दिनों के बाद ठाकुर ने आपको योग्य स्थान प्रदान किया है । हम अपने प्रेसीडेन्ट को ठाकुर ही मानते हैं । जिस तरह अलग-अलग प्रतिभा वाले हैं उसी तरह अलग-अलग संघ गुरू लाने हैं । वे ठाकुर के ही प्रतीक हैं । माधवानन्दजी ने हाथ जोड़कर कहा "तव आप माँ के प्रिय शिष्य हैं । आप ही अपने हाथों से इस मूर्त्ति में प्राण प्रतिष्ठा कीजिये ।" माधवानन्दजी वेदान्त चर्चा करते थे । कठिन पुस्तकों का उन्होंने अनुवाद किया था । बाहर से वे वैदान्तिक थे पर अंदर से प्रेम प्रवाहित होता था । वे रोज दो बार मंदिर प्रणाम करने जाते थे । उनका प्रणाम करना अद्भुत था । उसमें पूर्ण समर्पण की भावना होती थी । सबेरे उठकर वे जपध्यान करते थे । माँ ठाकुर स्वामीजी की जन्मतिथि पर उपवास करते थे और सारा दिन जप-ध्यान में बिताते थे । दुर्गापूजा के समय तीन दिन पूरा चंडीपाठ करते थे । गंगा स्नान वड़ी श्रद्धा से करते थे ।

समय का सद्व्यहार :- निर्मल महाराज कभी भी समय नष्ट नहीं करते थे । ट्रस्टी की मीटिंग चलती थी । इसी बीच कोई पुस्तक पढ़ लेते या कोई प्रूफ देख लेते थे । बीच-बीच में चर्चा भी कर लिया करते थे ।

अपरिग्रह :- किसी भक्त ने उन्हें नया जूता दिया । पर वे अपने पुराने जूते ही व्यवहार करते थे । किसी ने रंगून

से बहुत सुन्दर कुर्सी भेजी पर वे उसका व्यवहार नहीं करते थे। वे खड़ाऊँ व्यवहार करते थे। एकबार उनकी खड़ाऊ खराव हो गयी। उनके सेवक ने केरल से खड़ाऊ भेजी पर उसमें लगी छोटी-छोटी कीले पैर को चुभती थी इधर दूसरे भक्त एक खड़ाऊ लेकर आये। माधवानन्दजी ने नहीं एक जोड़े खड़ाऊ के अलावा दूसरा जोड़ा नहीं रख सकता हूँ। वे अपरिग्रह की प्रतिमूर्ति थे। एक वैग में उनके काम की सारी चीजें होती थीं धूप में अगर कोई उनके सिर पर छाता पकड़ते थे तो भी वे पसंद नहीं करते थे। किसी की सेवा लेना भी उन्हें पसंद नहीं था।

क्रोध पर विजय :- वे त्याग और सहिष्णुता की मूर्त्ति थे। उन्हें काफी पावर का चश्मा लगता था। एक बार सेवक की असावधानता से चश्में का एक काँच टूट गया। सेवक बहुत डर गया। महाराज को निवेदन किया। महाराज, ने कहा इससे क्या होता है, वह तो टूट ही जाता है और निर्विकार होकर थोड़े दिन तक टूटा चश्मा ही व्यवहार किया जवतक दूसरा चश्मा तैयार होकर नहीं आ गया।

मितव्ययिता :- डाक में जितनी भी चिठ्ठीयाँ आती थी। उसके कागज रस्सी-धागा सव रख देते थे और उसी को फिर काम में लाते थे। मठ का पैसा वहुत ही सावधानी से खर्चा करते थे। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि "मठ का पैसा भक्तों का पैसा है। उसे नष्ट करने का अधिकार हमें नहीं है। हमें एक एक पाई का हिसाव रखना पड़ेगा।" वे अक्षरशः इसका पालन किया कराते थे। वे मठ से खुद के लिये कोई सामान नहीं लेते थे। अपने ही प्रणामी के पैसे से ब्रश, साबुन आदि खरीदते थे। यहाँ तक कि चादर भी खुद ही खरीदते थे।

माधवानन्दजी को कई बार विदेश भ्रमण करना पड़ा। हालिउड में उन्होंने ओजस्वी भाषण दिया था। "विवेकानन्द और उनकी वाणी" और "कर्म जीवन में वेदान्त" अंत में आखरीबार Brain tumer का आपरेशन कराने अमेरिका गये। उन्हें उस समय जाने की बिल्कुल इच्छा नहीं थी क्योंकि इतने पैसों का खर्च स्वयं पर नहीं करना चाहते थे पर निखिलानन्द स्वामी उनका सब खर्च अपने कंधों पर लेने के लिये तैयार थे और बस अनुरोध पर वे अमेरिका जाने के लिये तैयार हुए। १६६१ में नर्स की सेवा लेने के विरूद्ध थे। १६ जनवरी १६६२ और ४ अगस्त १६६२ में वे मठ के अध्यक्ष हुए।

उनके जीवन का आखरी दिन लोगों की आध्यात्मिक प्रेरणा के लिये व्यतीत हुआ। वे अध्यक्ष पद पर सिर्फ ८ साल रहे। फिर भी वह काल प्रेरणादायक था। इस काल में स्वामी विवेकानन्द की जन्म शताब्दी मनायी गयी उनके भाषण का प्रचार रेडियों से देश-विदेश में फैला। १६६५ में मुम्बई आश्रम के मुख्य मंदिर का उन्होंने उदधाटन किया।

लोककल्याण :- दीक्षा वे सर्वसाधारण को दते थे। वे कहते थे अगर चुन-चुन कर माँ सारदा दीक्षा देतीं तो क्या मैं दीक्षा ले सकता था ?" कई युवक जो पथभ्रष्ट हो जाते थे। उन्हें वे उत्साहित करके फिर से ठीक पथ पर लाते थे। स्वामी सोमेश्वरानन्द के जीवन में उनका महत्वपूर्ण स्थान था। माधवानन्दजी १६६३ में काशी गये। काशी में विश्वनाथ गुरू हैं। इसलिये उन्होंने काशी में असी नदी के उस पार १ नवम्वर को संकटमोचन मंदिर में एक दंडी आश्रम में १३-१४ लोगों को दीक्षा दी और कहा "तुम सव भाग्यवान हो। कौन भगवान को चाहता है ? मंत्र सांखल की तरह है। कुँए के नीचे पानी है जितना भगवान को वुलाओगे, उनका नाम स्मरण करोगे, उतना ही पानी ऊपर आयेगा। तुम सव में कुछ हो रहा है। जैसे मैं समझ सकूँ ठीक उसी तरह। पानी में अनेक मछलियाँ होती हैं कभी पानी के ऊपर उठ आती है उसी तरह तुममें भी मैं भगवान की कृपा हुई ऐसा देखना चाहता हूँ। तुम सबको ईश्वर लाभ हो।"

१६६४ में मद्रास में मेरीना वीच के किनारे स्वामीजी की १० फीट मूर्त्ति के उदघाटन उत्सव में वे गये थे और राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने मूर्त्ति का उदघाटन किया था। उसके वाद वे मालदह गये। २३ अक्टूवर को वे कुर्सी से उठते समय गिर गये बायाँ पैर टूट गया। २५ अक्टूवर को आपरेश हुआ। कई महीनों तक वे सेवा प्रतिष्ठान में रहे। फिर वे मुम्बई गये। यही उनका आखरी अभियान था।

भक्तों से बातचीत, दीक्षा और संघ के दायित्व ने महाराज के शरीर को और दुर्बल कर दिया । फिर से उन्हें सेवा प्रतिष्ठान में भर्ती करना पड़ा पर इतने अस्वस्थ होने पर भी उनका जप ध्यान सुव्यवस्थित ढंग से चल रहा था । डॉ० मुरली चैटर्जी ने उन्हें रोगशय्या पर कठिन बीज गणित हल करते हुए देखा था ।

मृत्यु से भयभीत न होना अभिनिवेश :- मृत्यु शय्या पर होते हुए भी वे मृत्यु से नीडर थे । उनके सेवक डर गये थे । उन्हें जपध्यान नहीं करने को कहा । उन्होंने सेवक से कहा कि "भय तो मृत्यु है ।" वे कभी-कभी ध्यानावस्था में चले जाते थे कभी "माँ-माँ पुकारते थे तथा ठाकुर माँ स्वामीजी की तस्वीर पर एकटक देखते रहते थे ।"

महासमाधि के पूर्व एक बूँद पानी लेने से इन्कार कर दिया था । एकमात्र ठाकुर की चिन्ता । सेवक ने कहा महाराज आप कुछ भी नहीं ग्रंहण कर रहे हैं इस तरह आप बचेंगे क्या ? महाराज ने कहा "ईश्वर की इच्छा" ।

१ अक्टूबर धूमधाम से दूर्गापूजा का उत्सव मठ में मनाया जा रहा था । महाराज सब पूजा अर्चना आदि की खबर ले रहे थे । थोड़ा मजाक भी कर रहे थे । दोनों डाक्टर महाराज की हालत देखकर चिंताग्रस्त थे । वे मजाक कर रहे थे । मेरे दो डाक्टर हैं दोनों चिंताशील । हालत बिगड़ती ही गई ।

५ अक्टूबर था विजया दशमी का दिन । उन्होनें विजया का आशीर्वाद पत्र पहले से ही लिख लिया था । सबका प्रणाम स्वीकार किया । उन्होंने शांतिजल ग्रहण किया था । ६ अक्टूबर के दिन उनकी तबीयत थोड़ी ठीक थी । उनके प्रिय चिकित्सक जो दार्जिलिंग में थे वे देखना चाहते थे आखिर शाम ५ बजे दो चिकित्सक आ ही गये । उन्हें आशीर्वाद दिया । सब संन्यासियों से कुशल पूछ कर विवरण पूछा फिर वह महाक्षण आ गया ।

महाराज बोले "मुझे बैठा दो" । सेवक ने कहा महाराज आपको कष्ट होगा "महाराज ने गम्भीर स्वर से कहा "इधर प्राण चले जा रहे हैं" और मुझे बैठाना नहीं चाहते हो ।" सेवक ने उन्हें बैठा दिया । वे ठाकुर माँ के चित्र को लगातार देखते रहे जैसे पूर्ण शरणागति हो । कई मिनटों के बाद वे बोले "अब सुला दो ।" उल्टी हुई और "माँ" कहते हुए चिरसमाधि में लीन हो गये । सब घड़ी में बजे थे ६.३० बजे । ६ अक्टूबर १९६७ का दिन । उनकी उमर ६६ साल की थी । उस दिन एकादशी थी और मठमिशन में चल रहा था "श्रीरामनाम संकीर्तन" १०.३० बजे सेवा प्रतिष्ठान से बागबजार माँ के घर लाया गया । वहाँ भक्तों की श्रद्धा निवेदित की गयी । वहाँ से उन्हें बेलूर मठ ले जाया गया । सारी रात वेद पाठ मंत्रोच्चारण हुआ ।

६ अक्टूबर सवेरे सब भक्तों ने दर्शन किया । १०.३० बजे आरती के बाद उनकी चिता को अग्नि लगायी गयी ।

सोमेश्वरानन्दजी ने ३ बातें महाराज से सीखी थीं । धर्म क्या है ? मनुष्य के भीतर असीम शक्ति छिपी हुई है । वही शक्ति जागरूक करना धर्म है ।

ईश्वर सर्वत्र है । प्रत्येक जीव को उसकी मर्यादा और अधिकार देना होगा । प्रत्येक धार्मिक मनुष्य को समाज कल्याण का कार्य करना जरूरी है ।

उनकी जीवनगाथा रामकृष्ण मठ के कई साधु संन्यासियों के लिये आदर्श स्वरूप थी । आइये हम भी उनके जीवन का ध्यान करके अपना जीवन धन्य कर लें ।

बड़ा काम आने पर बहुतेरे वीर हो जाते हैं, दस हजार आदमियों की वाहवाही के सामने कायर पुरुष भी सहज ही में प्राण दे देता है; घोर स्वार्थपर भी निष्काम हो जाता है ; परन्तु अत्यन्त छोटे से कर्म में भी सब के अज्ञात, भाव से जो वैसी ही निःस्वार्थता, कर्तव्यपरायणता दिखाते हैं, वे ही धन्य हैं-वे तुम लोग हो-भारत के हमेशा के पैरों के तले कुचलते हुए श्रमजीवियों ! - तुम लोगों को मैं प्रणाम करता हूँ ।

– स्वामी विवेकानन्द

विवेक शिखा के ग्राहकों से निवेदन

हमारा संकल्प : आपका सहयोग

मेरे आत्मस्वरूप मित्रों,

विवेक शिखा विश्ववंद्य स्वामी विवेकानन्द की प्रखर अन्तः प्रेरणा से प्रकाशित होकर विगत बीस वर्षों से श्रीरामकृष्णानुरागी व्यक्तियों के बीच श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का प्रचार-प्रसार करती रही है। रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के वंदनीय वरिष्ठ साधु सन्तों ने अपना अनवरत स्नेह देकर इस शिखा को प्रज्वलित रखने में अनिर्वचनीय भूमिका निभायी है। श्रीरामकृष्ण-श्री माँ सारदा देवी एवं स्वामी विवेकानन्द के गृही भक्तों एवं अनुयायियों ने इसे अशेष सहयोग प्रदान किया है। न संचित निधि, न प्रेस की सुविधा, न कोई दफ्तर, न कर्मचारीगण या स्टाफ। फिर भी यह पत्रिका चलती रही है इकहत्था क्या यह किसी अकेले व्यक्ति के बूते की बात है ? मैं अपने पावन त्रिदेवों और आप सब को आन्तरिक नमन् करता हूँ।

इस वर्ष विवेक शिखा की प्रकाशिका के अकस्मात् श्रीरामकृष्ण धाम वासिनी हो जाने तथा अनेक अन्य अपरिहार्य कारणों से इसके प्रकाशन में भीषण व्यवधान उपस्थित हो गया। वार्षिक ग्राहकों की संख्या सिमटकर मात्र ९९ रह गयी। हम भीतर से टूट-से गये। वस्तुतः दारिद्रय-दोष हमारे सभी गुणों का अपहरण कर लेता है। लगतार सात महीनों तक पत्रिका नहीं छप सकी। हमें लगा कि यह पत्रिका अब बन्द ही हो जायगी। हम ग्लानि से भर उठें।

फिर रामकृष्ण मिशन के अनेक वरिष्ठ एवं पूज्य साधु-सन्तों तथा अनेक लेखकों एवं पाठक-पाठिकाओं के प्रेरक परामर्शों से इसका प्रकाशन होने लगा है। हम इसे नियमित करने के लिए कृत-संकल्पित हैं। बस हमें आपका स्नेह-सहयोग चाहिए।

अतएव, विवेक शिखा के कृपालु ग्राहकों एवं ग्राहिकाओं से हमारा आन्तरिक अनुरोध है कि -

- ✡ आप में से प्रत्येक ग्राहक-ग्राहिका कम-से-कम ५-५ नये ग्राहक बनाने अथवा अपने पाँच मित्रों एवं संबंधियों को उपहार के रूप में विवेक शिखा भेजने की कृपा करें तो विवेक शिखा की अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने में मदद मिलेगी।
- ✡ जिन्हें इस वर्ष सभी अंक नहीं मिले, वे पुनः ग्राहक बनने की कृपा करें।
- ✡ आप विवेक शिखा के लिए विज्ञापन भी दें या दिलवा सकते हैं।
- ✡ विवेक शिखा के लिए संरक्षक योजना के तहत आर्थिक अनुदान के रूप में रुपये विवेक शिखा के नाम से मनीआर्डर या ड्राफ्ट के द्वारा भेज सकते हैं।
- ✡ हमारे पास विवेक शिखा के पुराने विशेषांक-स्वामी भूतेशानन्द स्मृति अंक (मूल्य १५/-) युवाशक्ति विशेषांक (मूल्य ५/-), रामकृष्ण संघ शताब्दी अंक (मूल्य ६/-) भी काफी बचे हैं। इन्हें खरीदें। एक साथ १० या अधिक प्रतियाँ लेने पर २० प्रतिशत तक की छूट दी जायगी।
- ✡ जनवरी से वर्ष प्रारम्भ होता है। ग्राहक वर्ष के किसी भी माह से बन सकते है। ग्राहकों को जनवरी से सारे अंक उपलब्ध होंगे।
- ✡ विवेक शिखा आपकी है और आप से इसे महती अपेक्षाएँ हैं। आपका सहयोग ही हमारी प्रेरणा का स्रोत है।

निवेदक

सम्पादक, विवेक शिखा

रामकृष्ण निलयम् जयप्रकाश नगर,

छपरा - ८४१३०१ (बिहार)

डाक पंजीयित संख्या - सी.एच.पी. १४-८३

कुछ संग्राह्य पुस्तकें

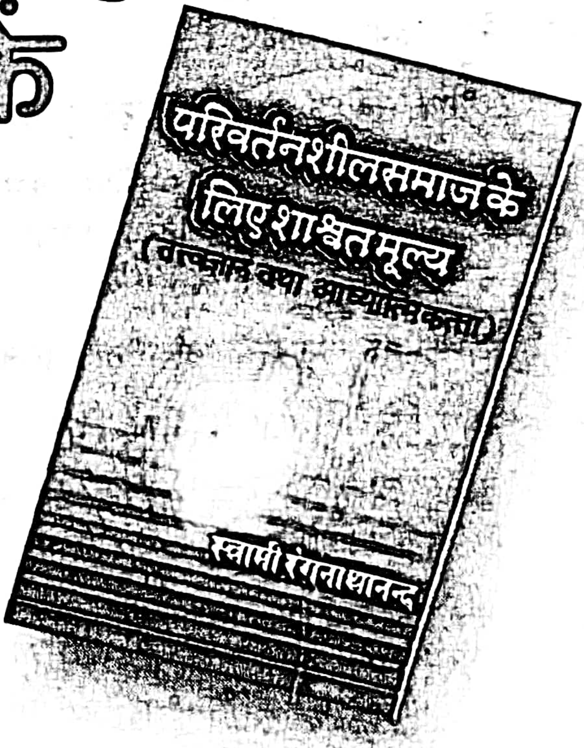

अधिक जानकारी के लिए लिखें :

रामकृष्ण मठ (प्रकाशन विभाग) धन्तोली, नागपुर (महाराष्ट्र) ४४० ०१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं शिवशक्ति प्रिण्टर्स, सैदपुर, पटना-४ में मुद्रि

सम्पादक : डॉ केदारनाथ लाभ